बीच बहस में लघु-पत्रिकाएँ

आंदोलन, संरचना और प्रासंगिकता

राजीव रंजन गिरि
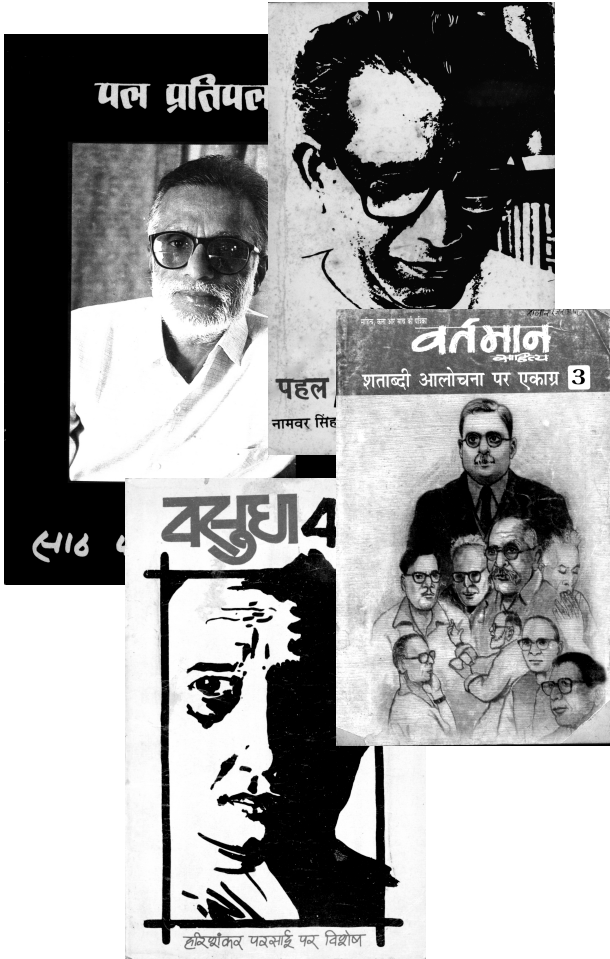
हिंदी साहित्य के अतीत और वर्तमान को पहचानने और विश्लेषित करने की कोई भी कोशिश, लघु-पत्रिकाओं की दुनिया पर नज़र डाले बिना, पूरी नहीं हो सकती। साठ और सत्तर के दशक में उभरे हिंदी लघु-पत्रिकाओं के विविध-विशद संसार को एक संस्थागत सांस्कृतिक आंदोलन का रूप देने की कोशिश नब्बे के दशक में की गयी। ख़ास बात यह थी कि यह पहल, कम्युनिस्ट पार्टियों के नेतृत्व में चलने वाले लेखक संगठनों से, अलग तरह की थी। दूसरे, उस समय तक सांस्कृतिक आंदोलन के लिए ज़रख़ेज़ समझी जाने वाली साहित्य की ज़मीन बदली हुई राजनीतिक-सामाजिक परिस्थितियों में नयी परिभाषाओं की माँग कर रही थी। चुनौतियों का स्वरूप पहले जैसा नहीं रह गया था। विचारधारा, प्रतिबद्धता, प्रतिरोध, समाज-रचना, व्यावसायिकता और रचनाशीलता जैसे प्रत्यय संशोधन की माँग कर रहे थे। इस नयी परिस्थिति में साहित्यकारों और लघु-पत्रिकाओं के सम्पादकों को एक ऐसे द्वैध का सामना करना पड़ा जो नये वक़्त की सांस्कृतिक बेचैनियों की नुमाइंदगी कर रहा था।

परिभाषा का प्रश्न

हिंदी में लघु–पत्रिका का मतलब लघु आकार, प्रसार का लघु दायरा और प्रकाशन की लघु संरचना तो है ही, ख़ास तरह की चेतना से लैस प्रतिरोध की ज़मीन तैयार करने का सांस्कृतिक–राजनीतिक मर्म भी, इन पत्रिकाओं को, व्यावसायिक पत्रिकाओं से अलग करता है। ख़ुद को लघु–पत्रिका या लिटिल मैग़ज़ीन कहने वाले प्रकाशनों की शुरुआत द्वितीय विश्व–युद्ध के दौरान फ्रांस के रज़िस्टेंस समूह से मानी जाती है। ज्याँ–पाल सार्त्र जैसी हस्तियाँ इसमें शामिल थीं। चूँकि रज़िस्टेंस समूह की पत्रिका का तेवर सत्ता के ख़िलाफ़ था इसलिए उसे प्रतिरोध की आवाज़ होने की पहचान मिली। लेकिन, इस इतिहास और सामान्य परिभाषा के बावजूद हिंदी–क्षेत्र में, इस बारे में, अलग–अलग तरह के विचार मिलते हैं कि लघु–पत्रिका किसे माना जाए किसे नहीं। उन्नीसवीं सदी या उसके उपरांत जिन लेखकों ने अपनी पत्रिका निकाली, उन्होंने उसे 'लघु' नहीं कहा। वास्तव में विवाद 'लघु' शब्द को लेकर ही है। कुछ लोग लेखकों के छोटे समूह या व्यक्तिगत प्रयास और सीमित साधनों से निकाली जाने वाली सारी पत्रिकाओं को लघु–पत्रिका का दर्जा देते हैं, और कुछ नहीं देते।[1]

रामकृष्ण पाण्डेय ने लघु–पत्रिकाओं के भारतीय परिप्रेक्ष्य को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि 'एक समय था जब भारतीय भाषाओं में छोटी पत्रिकाओं का एक बड़ा आंदोलन विकसित हुआ था। उसका मूल स्वर व्यवस्था–विरोध और बड़ी पत्र–पत्रिकाओं की जकड़बंदी से साहित्य को बाहर निकालना था। कहना न होगा कि छोटी पत्रिकाओं के आंदोलन ने उस राजनीति को सम्पोषित किया जो परिवर्तनकामी थी और सामाजिक रूपांतरण की पक्षधर थी।'[2] पाण्डेय ने जिस दौर को 'एक समय था' कहा है वह साठ–सत्तर का दशक है। इसी दौर में बड़े प्रकाशन समूहों की पत्रिकाओं के बरअक्स (बल्कि प्रतिरोध में) छोटे स्तर पर (व्यक्तिगत या लेखकों के छोटे समूहों द्वारा) कई पत्रिकाओं का प्रकाशन शुरू हुआ। इनके ज़रिये कई रचनाकार उभरे जो भविष्य में महत्त्वपूर्ण साबित हुए। उस दौर में साहित्य ही नहीं, अन्य कई क्षेत्र भी, बदलाव की प्रक्रिया से गुज़र रहे थे।[3] इस आधार पर कहा जा सकता है कि लघु–पत्रिका के मर्म में परिवर्तनकारी राजनीति और बेहतरी की दिशा में सामाजिक रूपांतरण की आवाज़ गूँजती है, उसमें वर्चस्वशाली विचारों के प्रतिरोध का मुद्दा केंद्रीय होता है। कथाकार प्रियंवद ने ठीक ही कहा है कि 'विचारशीलता और प्रतिरोध लघु–पत्रिका के मूल स्वर हैं। विचारशीलता से आशय है, अपने समाज और समय के द्वंद्वों को गहराई से सम्बोधित करना। प्रतिरोध से आशय है मनुष्य विरोधी संरचनाओं को चिह्नित करके उनकी मुख़ालफ़त करना, इसमें भी मुख्यतः राजनीतिक वर्चस्ववादी सत्ता का। इसके अतिरिक्त लघु–पत्रिका के स्वरूप व उसकी भूमिका को लेकर हमारे पास पहले की कुछ प्रचलित अवधारणाएँ भी हैं। ये हमारी मदद करती हैं। जैसे कि लघु–पत्रिका अनियतकालीन हो, लघु आकार की हो, साधारण काग़ज़ पर साधारण रूप से छपी हो, कम संख्या में प्रकाशित और साथियों के सहयोग से वितरित हो, उसके पीछे कोई बड़ी पूँजी, प्रतिष्ठान, या सुव्यवस्थित बुनियादी ढाँचा न हो, व्यक्तिगत संसाधनों से निकलती हो, उसका ध्येय आर्थिक उपार्जन न हो, वह किसी विशेष विचारधारा और सत्ता–व्यवस्था का सक्रिय प्रतिरोध हो तथा वह बड़ी पूँजीवादी पत्रिकाओं

---

[1] राजेंद्र यादव (2010), 'प्रतिरोध की आवाज़ रही हैं लघु–पत्रिकाएँ', *सण्डे नयी दुनिया,* नयी दिल्ली, 26 सितम्बर, रविवार.

[2] रामकृष्ण पाण्डेय (2009), 'छोटी पत्रिकाएँ और एक लिटिल मैग़जीन', *दैनिक भास्कर* (राष्ट्रीय संस्करण), नयी दिल्ली, 20 जून.

[3] असग़र वजाहत (2009), 'संसद से सड़क तक था जनवाद', *आज समाज,* नयी दिल्ली, 6 जुलाई (असग़र वजाहत का यह आलेख शम्स शाहनवाज़ से बातचीत पर आधारित है. उन्होंने इसमें 1962–63 से लेकर 1975–80 तक के दौर को याद करते हुए उस दौरान घटित परिवर्तन को रेखांकित किया है.)

के आतंक व वर्चस्व को चुनौती देती हो!'[4] प्रियंवद द्वारा दी गयी यह परिभाषा लघु-पत्रिका की सूरत और सीरत स्पष्ट करती है।[5]

आंदोलन इस अर्थ में भी सफल रहा कि साहित्यकार इस बात के मुखापेक्षी नहीं रह गये कि वे बड़ी-बड़ी पत्र-पत्रिकाओं में छपते हैं या नहीं। सेठाश्रयी पत्रिकाओं के बहिष्कार का तो नारा ही चल पड़ा था।

आंदोलन का निर्माण

हालाँकि रचनाकारों के निजी प्रयासों से पत्र-पत्रिकाएँ उन्नीसवीं सदी से ही छपती रही हैं, परंतु इनका आंदोलनकारी स्वरूप देश में नक्सली आंदोलन के प्रस्फुटित होने के बाद ही प्रकट हुआ। इसी के बाद साहित्य में व्यवस्था परिवर्तन की वह बात शिद्दत से उठने लगी, जो एक अरसे से हिंदी की दुनिया में धीमी पड़ गयी थी। मार्क्सवादी विचारधारा से आवेशित पुराने लेखक और संगठन पुनर्जीवित होने लगे। नये-नये संगठनों का जन्म होने लगा। नये लेखकों और साहित्यकारों के छोटे-छोटे समूहों ने, छोटी-छोटी जगहों से, उस दौर में अपनी सामर्थ्य के अनुसार, छोटी पत्रिकाओं का प्रकाशन और अक्सर मुफ़्त या सामान्य मूल्य पर उनका वितरण निष्ठापूर्ण उत्साह के साथ किया ताकि आम पाठक तक उसकी पहुँच हो सके।[6] पाण्डेय ने उस दौर की छोटी पत्रिकाओं के आंदोलन की सफलता को रेखांकित करते हुए लिखा है कि 'आंदोलन इस अर्थ में भी सफल रहा कि साहित्यकार इस बात के मुखापेक्षी नहीं रह गये कि वे बड़ी-बड़ी पत्र-पत्रिकाओं में छपते हैं या नहीं। सेठाश्रयी पत्रिकाओं के बहिष्कार का तो नारा ही चल पड़ा था।'[7] उस दौर में 'ज़रूरी यह हो गया था कि रचित साहित्य

---
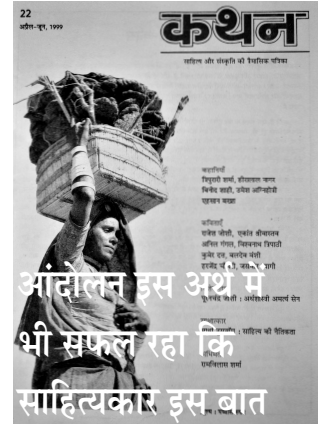
[4] विकासशील समाज अध्ययन पीठ, दिल्ली द्वारा 19 मार्च, 2013 को नयी दिल्ली स्थित इण्डिया हैबिटेट सेंटर में 'लघु-पत्रिकाओं की मौजूदगी : भविष्य व संरचना' पर आयोजित परिचर्चा में प्रियंवद द्वारा पेश पर्चा.

[5] इस परिभाषा के साथ दिक़्क़त यह है कि स्वरूप की 'लघुता' की कसौटी क्या होगी? किसकी सापेक्षता में लघु? व्यक्तिगत प्रयास या मित्रों के सहयोग से कुछ पूँजी इकट्ठा कर अगर कोई पत्रिका नियमित अंतराल पर प्रकाशित होती है और उसकी भूमिका प्रतिरोधी है तो क्या वह लघु-पत्रिका नहीं मानी जाएगी? हिंदी की चार मासिक पत्रिकाओं *हंस, कथादेश, वागर्थ* और *नया ज्ञानोदय* के उदाहरण की रोशनी में दो कोटियाँ निर्मित होती हैं. *हंस* और *कथादेश* व्यक्तिगत प्रयास और मित्रों के सहयोग से निकल रही काफ़ी-कुछ एक सी पत्रिकाएँ हैं जिनके व्यावसायिक पहलू भी हैं. इन दोनों पहलुओं के लिहाज़ से काफ़ी हद तक सफल भी हैं. तुलना करने पर पूँजी, प्रतिरोध और मुनाफ़ा के मामले में *हंस* की स्थिति बीस साबित होगी और *कथादेश* की उन्नीस या इससे भी कम. क़ाबिले ग़ौर है कि यह सम्पादक की इच्छा-शक्ति समझ और सम्पर्क पर भी निर्भर करता है कि वह पत्रिका का स्वरूप जैसा रखना चाहता है या रख पाता है, या उसकी भूमिका क्या तय करता है, वह देश-काल की गतिशीलता और परिवर्तनशीलता की ताक़तों को कितना समझा और विश्लेषित कर पाता है, वर्चस्वमूलक संरचना की कितनी पहचान कर पाता है और उसके किस पहलू के प्रतिरोध में कितने क़दम आगे बढ़ाता है. ध्यान रहे कि हिंदी साहित्य की मुख्यधारा में 'व्यावसायिकता', 'लोकप्रियता' और 'मुनाफ़ा' को 'पाप' सरीखा माना जाता है. द्वैध यह कि सभी लोकप्रियता और मुनाफ़ा चाहते हैं पर स्वीकार करने से परहेज़ करते हैं. दूसरी कोटि में रखी गयी पत्रिकाएँ *वागर्थ* और *नया ज्ञानोदय* व्यावसायिक, पूँजीपति घरानों द्वारा खड़ी की गयी संस्थाओं की पत्रिकाएँ हैं. यदा-कदा इनमें भी ऐसी सामग्री छप जाती है जिन्हें 'प्रतिरोध' की श्रेणी में रखा जा सकता है. बावजूद इसके, इन्हें लघु-पत्रिका नहीं कहा जा सकता, क्योंकि संस्थागत ढाँचा, आर्थिक आधार और पूँजीवादी प्रतिष्ठान इनकी बुनियाद तथा मज़बूती के स्रोत हैं.

[6] *दैनिक भास्कर,* 20 जून, 2009; अन्य लेखों में भी लघु-पत्रिका आंदोलन को इस दौर से जोड़ कर बताया गया है. देखें, राजीव रंजन गिरि (2009), 'लघु-पत्रिकाएँ : बड़े सवाल', *आज समाज,* नयी दिल्ली; 6 जुलाई; प्रियंवद (2009), 'संघर्ष का स्वर', *जनसत्ता,* नोएडा.

[7] रामकृष्ण पाण्डेय, वही.

सामाजिक परिवर्तन का पक्षधर है या नहीं।'[8]

क़ाबिले गौर है कि 'पारिभाषिक अर्थ में लघु-पत्रिका सातवें दशक के अंतिम वर्षों में अस्तित्व में आयीं। यह चरण साहित्यिक से अधिक सामाजिक था। स्वाधीनता-आंदोलन के दौरान लेखकों या हिंदी सेवी प्रकाशन संस्थाओं द्वारा जो पत्रिकाएँ निकाली गयी थीं, वे प्रायः एक-एक कर बंद हो चुकी थीं और पत्रिका-प्रकाशन पर इज़ारेदार घराने हावी थे। वहाँ से निकलने वाली पत्रिकाएँ थीं— *धर्मयुग, सारिका, साप्ताहिक हिंदुस्तान* आदि। इन्हें रंगीन पत्रिका कहा गया। स्वभावतः इनके द्वारा प्रक्षेपित विचारधारा से नयी पीढ़ी के लेखकों की विद्रोहपूर्ण विचारधारा का विरोध था। रंगीन पत्रिकाओं में उनके लिए जगह नहीं थी। इन परिस्थितियों में नये लेखकों ने अपनी अभिव्यक्ति के लिए ख़ुद मंच बनाना शुरू किया और छोटे-छोटे नगरों/क़स्बों में लघु-पत्रिकाएँ निकलने लगीं।'[9] इस आधार पर कहा जा सकता है कि भारतेंदु युग में लेखकों द्वारा निजी प्रयास से निकाली जा रही पत्रिका को लघु-पत्रिका की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता। दरअसल, उस दौर में तो हिंदी में यही पत्रिकाएँ थीं। लिहाज़ा उस समय 'बृहद्' और 'लघु' के विभाजन की ज़रूरत नहीं थी। बीसवीं सदी के शुरुआती दशकों में यद्यपि इण्डियन प्रेस सरीखे व्यावसायिक संस्थान पत्रिका-प्रकाशन में सक्रिय थे, पर इस दौर में भी निजी कोशिशों से होने वाले प्रकाशनों को लघु-पत्रिका नहीं कहा गया। लेकिन वीर भारत तलवार सत्तर के दशक में लघु-पत्रिकाओं के उभार की धारणा से सहमत नहीं हैं। वे इस परिघटना में साठ का दशक भी जोड़ते हैं।

बकौल तलवार, '1960 और 70 के दशक में लघु-पत्रिकाओं की बाढ़ आयी थी। लघु-पत्रिकाओं का साहित्यिक महत्त्व उभार पर था। तब एक-से-एक अच्छी रचनाएँ इन पत्रिकाओं में छपती थीं। उस वक़्त किसी ने भी इन पत्रिकाओं का संगठन नहीं बनाया, न कोई सचेत आंदोलन चला। फिर भी आज कह सकते हैं कि वह अपने आप में एक आंदोलन जैसा था, जिसने उस वक़्त *धर्मयुग* और *साप्ताहिक हिंदुस्तान* जैसी बड़ी रंगीन व्यावसायिक पत्रिकाओं को साहित्यिक दृष्टि से परास्त कर दिया था।'[10]

तलवार की बात से साफ़ पता चलता है कि साठ-सत्तर के दशक में भले ही सचेत आंदोलन न चला हो, और पत्रिकाओं का संगठन भी न बना हो, पर वह अपने आप में एक आंदोलन जैसा ही था। वस्तुतः वह नक्सली आंदोलन द्वारा बनाये वातावरण का प्रतिफल था। जो लोग संगठन आधारित सचेत आंदोलन की घोषणा साठ-सत्तर के दशक में खोजते हैं, उन्हें निराशा होना स्वाभाविक है।[11] यही कारण है कि रामकृष्ण पाण्डेय[12] और रामकुमार कृषक[13] सरीखे लोग साठ-सत्तर के दशक की छोटी पत्रिकाओं के उभार को भी आंदोलन मानने पर ज़ोर देते हैं।

लघु-पत्रिकाओं के संगठन और सचेत आंदोलन का आरम्भ 29-30 अगस्त, 1992 को कोलकाता में लघु-पत्रिकाओं के सम्पादकों की राष्ट्रीय संगोष्ठी से माना जाता है। कथाकार ज्ञानरंजन[14] और

---

[8] वही, पृ. 8.

[9] भारत भारद्वाज (2009), 'लघु-पत्रिका आंदोलन की परिणति' *जनसत्ता,* नोएडा, 9 अगस्त.

[10] वीर भारत तलवार (1995), 'लघु-पत्रिका आंदोलन के बारे में कुछ विचार', *उत्तरार्द्ध,* मथुरा, (उप्र) : 67.

[11] भारत भारद्वाज, वही.

[12] रामकृष्ण पाण्डेय (2009), वही.

[13] रामकुमार कृषक (2010), 'लघु' मगर भूमिका 'बड़ी', *दैनिक भास्कर,* 14 सितम्बर, गिरधर राठी (अतिथि सम्पा.), हिंदी दिवस के मौके पर 24 पृष्ठ का 'हिंदी हैं हम : समय की भाषा').

[14] *पहल* के सम्पादक एवं हिंदी के महत्त्वपूर्ण कथाकार, प्रगतिशील लेखक संघ में एक दौर में सक्रिय रहे. प्रलेसं के सक्रिय कार्यकर्ता कमला प्रसाद पाण्डेय के साथ *पहल* की शुरुआत की, बाद में कमला प्रसाद के अलग होने पर अकेले निकालते रहे.

आलोचक शंभुनाथ[15] की पहल पर, निजी स्तर और छोटे समूहों के सहयोग से, पत्रिका निकालने वाले सम्पादकों-लेखकों की राष्ट्रीय संगोष्ठी आयोजित की गयी थी। इसमें हिंदी के कई सम्पादकों-लेखकों ने हिस्सा लिया था।[16] संगोष्ठी का विषय 'लघु-पत्रिकाएँ : नयी चुनौतियाँ और दिशाएँ' था।[17] संगोष्ठी के आरम्भ में संयोजकीय प्रतिवेदन पेश करते हुए शंभुनाथ ने कहा कि 'लघु-पत्रिकाएँ चुनौती बन रही हैं। इसलिए उनके सामने भी चुनौतियाँ खड़ी हो रही हैं। *कविवचन सुधा* के प्रकाशन से सर्वप्रथम भारतेंदु ने ही लघु-पत्रिका की परम्परा आरम्भ की थी और उसके बाद जो सिलसिला शुरू हुआ, उससे सत्ता के दाँत खट्टे होने लगे। एक दूसरे युग में, सन् 60 के आसपास लघु-पत्रिकाओं ने व्यावसायिक पत्रिकाओं से लोहा लिया। जगह-जगह से विभिन्न तेवर की अनगिनत लघु-पत्रिकाएँ निकलीं।' शंभुनाथ के इस वक्तव्य में लघु-पत्रिकाओं को अतीत में भारतेंदु और निकट अतीत में साठ के आस-पास की लघु-पत्रिकाओं से जोड़ना मानीख़ेज़ है। ऐसा करके शंभुनाथ ने लघु-पत्रिकाओं की विरासत को व्यापकता और गहराई प्रदान की। उनके मुताबिक लघु-पत्रिकाओं का 'मुख्य अवदान यह नहीं है कि इन्होंने बड़े लेखक बनाये। इन्होंने साहित्य के जनतंत्रीकरण का व्यापक अवसर दिया, लेखकों और साहित्यिक पत्रिका निकालने वालों का एक प्रखर और व्यापक समुदाय तैयार किया, प्रधान बात यह है।' पर, इसके साथ ही 'लघु-पत्रिका की अवधारणा का सरलीकरण हुआ और पाठक वर्ग घटने लगा। फिर भी, जनता में साहित्य के प्रति आदर था।'[18] बकौल शंभुनाथ 'एक तीसरा दौर आया, जो साठ के दशक के उफ़ान जैसा नहीं था, पर जितना था बहुत ठोस और सधा हुआ था। प्रगतिशील और जनवादी पत्रिकाओं के इस दौर में लघु-पत्रिकाओं ने अपनी जड़ें पुख़्ता कीं। नये सिरे से पाठक वर्ग तैयार करना भी आरम्भ किया। तभी इस दौर में विकसित मीडिया ने व्यावसायिक पत्रिकाओं को पतन की ओर ठेला ही— एक-एक कर व्यावसायिक पत्रिकाएँ बौनी होने लगीं। पर जो भयावह लीला आरम्भ की, वह थी सांस्कृतिक प्रदूषण की। उसके लीला-क्षेत्र में मध्यवर्ग ही नहीं, साधारण वर्ग के लोग भी घिरते जा रहे हैं और उनमें मुद्रित साहित्य के प्रति उदासीनता घर करती जा रही है। फलतः निराशा में साहित्य-सृजन धीमा हो गया है। लेखक प्रदूषित
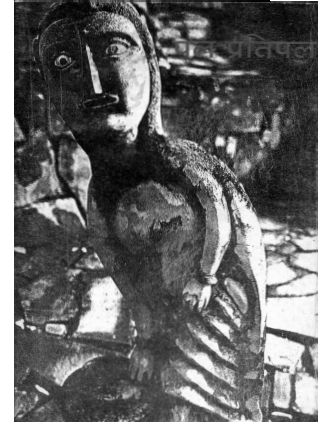
एक तीसरा दौर आया, जो साठ के दशक के उफ़ान जैसा नहीं था, पर जितना था बहुत ठोस और सधा हुआ था। प्रगतिशील और जनवादी पत्रिकाओं के इस दौर में लघु-पत्रिकाओं ने अपनी जड़ें पुख़्ता कीं। नये सिरे से पाठक वर्ग तैयार करना भी आरम्भ किया।

---

[15] *समकालीन सृजन* के सम्पादन से सम्बद्ध.

[16] *समकालीन सृजन* द्वारा आयोजित इस संगोष्ठी में शामिल होने वाले लोगों की सूची और वक्तव्य के लिए देखें, लघु-पत्रिकाओं की राष्ट्रीय समन्वय समिति द्वारा *पहल* के सहयोग से जारी 'बुलेटिन-एक', नवम्बर 1992, जबलपुर (मप्र).

[17] इस दो दिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी में 'लघु-पत्रिकाओं की परम्परा और साहित्यिक महत्ता', 'लघु-पत्रिकाओं के समक्ष प्रधान चुनौतियाँ और कठिनाइयाँ', 'लघु-पत्रिकाएँ : सामाजिक सरोकार और विचारधारा' विषय पर वक्ताओं ने अपनी राय पेश की. देखें, बुलेटिन-एक.

[18] वही : 4.

और रीढ़-विहीन पत्रकारिता द्वारा हड़पे जा रहे हैं। साहित्य-सृजन स्थगित करके, रचनाकार क्रीतदास होकर दैनिक पत्रों के लिए 'फ़ास्ट फ़ूड' की कोटि का साहित्य लिखने को मजबूर हैं। इसके अलावा इतिहास की चेतना पर भी संकट आया है और कूपमण्डूकता पनपी है। जीवन के नये यथार्थों का सामना कर विचारधारा के विकास की जगह तिरस्कार की साठोत्तरी प्रवृत्ति भी पुनर्जीवित हुई है। लघु-पत्रिकाओं के सामने नयी चुनौतियों के प्रधान बिंदु ये ही हैं।[19] जनवादी लेखक संघ के तत्कालीन महासचिव ओमप्रकाश ग्रेवाल ने अपने संदेश के ज़रिये कहा कि 'सत्तर के दशक में जनवादी प्रगतिशील साहित्य के उभार में तथा उसके प्रसार और विकास में लघु-पत्रिकाओं ने अत्यंत महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। साहित्य को राजनीति के दबावों और विचारधारात्मक बंधनों से मुक्त रखने के नाम पर उसे सामाजिक जीवन को प्रभावित करने वाले आधारभूत सवालों से काट देने और पंगु बना डालने वाली प्रवृत्ति तब ज़ोरों पर थी। लघु-पत्रिका आंदोलन ने इससे टक्कर ली और समकालीन रचनाशीलता को नयी ऊर्जा के साथ व्यक्त होने का मौक़ा मिला। व्यावसायिक पत्रिकाएँ उन दिनों भी पाठकों को घटिया साहित्य की घुट्टी पिला कर उनकी सौंदर्याभिरुचियों को भ्रष्ट कर रही थीं और उनकी सामाजिक जागरूकता को कमज़ोर बता रही थी। स्वस्थ और जीवंत साहित्यिक रचनाओं को सुधी पाठकों तक पहुँचाने और व्यावसायिक पत्रिकाओं के विषाक्त प्रभाव से उन्हें बचाये रखने का काम उन दिनों लघु-पत्रिकाओं ने ही किया। पिछले दो दशकों के दौरान जब कभी सामाजिक जीवन में ऐसे घटना-विकास हुए जिनके कारण समकालीन रचनाशीलता के सामने नयी चुनौतियाँ सामने खड़ी हो गयीं और वह नये रूपों में व्यक्त होने लगीं तो इन गुणात्मक बदलावों को पहचानने का काम भी मुख्य रूप से लघु-पत्रिकाओं में उठाई गयी बहसों के ज़रिये सम्पन्न हुआ।'[20] उस दौर में लघु-पत्रिका आंदोलन की ज़रूरत क्यों महसूस की गयी? इसे स्पष्ट करते हुए ग्रेवाल ने लिखा है कि 'इलेक्ट्रॉनिक मीडिया की बढ़ती हुई ताक़त के सामने व्यावसायिक पत्रिकाओं की भूमिका भी गौण हो गयी है। उपभोक्ता संस्कृति अब टीवी और वीडियो के ज़रिये लोगों के दिलों और दिमाग़ों पर छा जाने और उन्हें अपने क़ब्ज़े में करने पर तुली हुई है। हमारे समाज में जनता की दुश्मन ताक़तें लोगों के अंदर नफ़रत और हिंसा का उन्माद पैदा करके उन्हें अपने ही ख़िलाफ़ खड़ा कर रही हैं और सामाजिक जीवन के ताने-बाने को बनाये रखने के लिए ज़रूरी सभ्य व्यवहार की मर्यादाओं को नष्ट कर रही हैं। विश्व के पैमाने पर शांति और न्याय के पक्ष में खड़ी ताक़तों को आज बहुत बड़ा धक्का लगा है और साम्राज्यवादी ताक़तों का गलबा (रुतबा) इतना बढ़ गया है कि ग़रीब देशों के साथ मनमाने ढंग से दादागिरी करने में उन्हें कोई हिचक नहीं होती। तीसरी दुनिया के राष्ट्रों को अपमानित करने, उन्हें दबाने और कुचल डालने के उनके प्रयास बढ़ते जा रहे हैं। कर्ज़ों और व्यापार के ज़रिये उन पर ऐसी घातक आर्थिक नीतियाँ थोपी जा रही हैं जिनसे उनका स्वतंत्र विकास रुक जाएगा और वे साम्राज यवादी ताक़तों के ग़ुलाम बनकर रह जाएँगे। ऐसी परिस्थितियों में लघु-पत्रिकाओं से जुड़े हुए लेखकों

---

[19] वही, पृ.4-5; इन चुनौतियों को रेखांकित करने के बाद शंभुनाथ ने कहा कि 'यदि कहा जाए कि हमारे युग की चुनौतियाँ भारतेंदु, प्रेमचंद युग तथा साठ के दशक से अधिक व्यापक हैं तो हमें यह भी कहना चाहिए कि परम्पराओं और सम्भावनाओं की भी हम ज्यादा उर्वर धरती पर खड़े हैं. इस राष्ट्रीय संगोष्ठी के सामने सम्भवत: मुख्य दायित्व यही है कि हम अपनी परम्पराओं की उर्वर धरती को पहचानें और कठोर से कठोर आत्म समीक्षा से गुजरें. अभी भी हमारे बौद्धिक वातावरण में लघु-पत्रिका धारणा को लेकर एक गहरा भ्रम है. समस्याओं से धारणाएँ प्रभावित होती हैं, लेकिन धारणाएँ स्पष्ट हों तो समस्याएँ दूर भी होती हैं. कठिनाइयाँ अनंत हैं तो मानवीय क्षमताओं की भी कोई सीमा नहीं है. हमारी कामना है कि यह राष्ट्रीय संगोष्ठी विचारों की टकराहट के बीच से एक ऐसी दृष्टि खड़ी करे, जिससे हम अपनी कठिनाइयों और क्षमताओं का सही आकलन करके सम्भावनाओं के आकाश को भी पहचान सकें.'

[20] वही : 7.

और सम्पादकों द्वारा कठिनाइयों से घिरे हुए महसूस करना और सांस्कृतिक क्षेत्र में सार्थक हस्तक्षेप के औज़ार के रूप में लघु-पत्रिकाओं की उपयोगिता के बारे में उनके मन में अनेक प्रश्न का खड़े हो जाना स्वाभाविक लगेगा। इस विकट स्थिति में अगर हमारे कुछ साथी मायूसी में डूबने लगे हैं और किंकर्तव्यविमूढ़ से दिखाई देने लगे हैं तो यह कोई अचम्भे की बात नहीं है। लेकिन लघु-पत्रिकाएँ आज हमारे लिए पहले से भी ज़्यादा ज़रूरी हो गयी हैं, इनसान की इनसानियत को बनाये रखने के संघर्ष में आज भी लघु-पत्रिकाओं की एक अहम भूमिका निश्चित तौर पर बनी हुई है।' इन कारणों से 'मायूसी के प्रभाव में आ जाना हमारे लिए बहुत महँगा पड़ सकता है।' इसीलिए 'अपनी बौद्धिक सजगता और नैतिक दृढ़ता बनाये रखकर हमें लघु-पत्रिका आंदोलन की मौजूदा स्थिति का वस्तुपरक विश्लेषण करते हुए उभरने वाली चुनौतियों को व्याख्यायित करना होगा और हमारे सामने खड़ी विभिन्न समस्याओं के मिल-जुल कर उचित समाधान ढूँढ़ने होंगे।'[21]

शंभुनाथ और ओमप्रकाश ग्रेवाल के आधार पर कहा जा सकता है कि अगर साठ-सत्तर के दशक में लघु-पत्रिका-आंदोलन (भले ही वह संगठन बना कर सचेत रूप से नहीं किया गया था) बड़े घरानों से निकलने वाली 'रंगीन' पत्रिकाओं के विरोध में शुरू हुआ था, तो बीसवीं सदी के अंतिम दशक का लघु-पत्रिका आंदोलन इलेक्ट्रॉनिक मीडिया और उस दौर के भू-राजनीति-आर्थिक परिदृश्य में क़ायम वर्चस्वमूलक ताक़तों के ख़िलाफ़ आरम्भ हुआ। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि साठ-सत्तर के दशक की लघु-पत्रिकाओं की मुख्य दुश्मनी 'रंगीन' साहित्यिक पत्रिकाओं से थी,[22] पर बीसवीं सदी के अंतिम दशक के लघु-पत्रिका आंदोलन ने अपने बरअक्स ज़्यादा बड़े फलक को रेखांकित किया था।

पहली राष्ट्रीय संगोष्ठी में सिर्फ़ सम्पादकों ने ही भाग नहीं लिया था बल्कि लघु-पत्रिका आंदोलन से सहमति रखने वाले रचनाकारों ने भी हिस्सा लिया था। कवि अरुण कमल ने इस संगोष्ठी में कहा था कि 'लघु-पत्रिका आंदोलन एक बृहत्तर सांस्कृतिक आंदोलन का ही अंग है। युरोप में भी लिटिल मैग़ज़ीन मूवमेंट और अमेरिका में प्रोटेस्ट मूवमेंट है। जब तक प्रतिवाद का आंदोलन रहेगा, तब तक लघु-पत्रिकाएँ रहेंगी। लघु-पत्रिकाओं का दायित्व है कि वह अपने आलोचनात्मक और साहित्यिक विवेक की रक्षा करें। हिंदी लेखक अपने रक्त की अंतिम बूँद तक लघु-पत्रिकाओं के साथ रहेंगे।'[23] अरुण कमल ने आलोचनात्मक

अगर साठ-सत्तर के दशक में लघु-पत्रिका-आंदोलन बड़े घरानों से निकलने वाली 'रंगीन' पत्रिकाओं के विरोध में शुरू हुआ था, तो बीसवीं सदी के अंतिम दशक का लघु-पत्रिका आंदोलन इलेक्ट्रॉनिक मीडिया और उस दौर के भू-राजनीति-आर्थिक परिदृश्य में क़ायम वर्चस्वमूलक ताक़तों के ख़िलाफ़ आरम्भ हुआ।

[21] वही : 8.

[22] ऐसा कह कर उस दौर के सामाजिक-राजनीतिक पहलुओं को नज़रअंदाज़ नहीं किया जा रहा है, बल्कि 'बलाघात' बदलने का इसरार किया गया है. आशय यह कि 'रंगीन' पत्रिकाओं का साहित्य मोर्चे पर हो रहे विरोध का विचारधारात्मक आयाम है. पर, बीसवीं सदी के लघु-पत्रिका आंदोलन ने घोषित तौर पर अपनी चिंता के दायरे में देश और विश्व के फलक की चुनौतियों को रखा.

[23] बुलेटिन-एक : 17.

और साहित्यिक विवेक की रक्षा का दायित्व लघु-पत्रिकाओं के लिए बताकर इसके सरोकार को और व्यापक बनाया। कहना न होगा कि साहित्यिक विवेक की हिफ़ाज़त तो प्रकारांतर से साहित्यिक पत्रिकाओं का सीधा मक़सद होता ही है। पर आलोचनात्मक विवेक तो नीर-क्षीर की समझ पैदा करता है। आलोचनात्मक विवेक व्यक्ति में यथास्थिति, यथार्थ एवं प्रदत्त मान्यताओं, जिन्हें सहज एवं स्वाभाविक मान ली गयी हैं, का वास्तविक परिप्रेक्ष्य में ठीक-ठीक विश्लेषण-मूल्यांकन करने की समझ पैदा करता है। इस लिहाज़ से अरुण कमल के इस वक्तव्य की आख़िरी पंक्ति भावुकता भरी मानी जा सकती है। पर किसी भी आंदोलन या संघर्ष के आरम्भ में ऐसी भावुकता भी ज़रूरी होती है। कहानीकार इसराइल ने उस गोष्ठी में कहा था कि 'इस युग के तमाम कहानीकार लघु-पत्रिकाओं के बीच से ही आये हैं। एक व्यक्ति द्वारा निकाले जाने के बावजूद लघु-पत्रिका एक सामूहिक अभिव्यक्ति है। वैचारिक क्रांति को समय-समय पर लघु-पत्रिकाओं ने ही प्लेटफ़ॉर्म दिया। लघु-पत्रिकाओं को आम पाठक तक पहुँचाने के उपाय ढूँढ़ने चाहिए'।[24] बकौल कहानीकार पुन्नी सिंह 'हमारे यहाँ लेखकों से कम सम्पादक और सम्पादकों से भी कम पाठक हैं। पाठक वर्ग बना रहे, इसके लिए ज़रूरी है कि लघु-पत्रिकाएँ निरंतरता के उपाय ढूँढ़ें। इसके लिए ज़रूरी है कि बड़ा से बड़ा लेखक भी और सम्पादक आपस में मिलकर कार्य करें— एक इकाई के रूप मे।'[25] यहाँ इसराइल और पुन्नी सिंह एक महत्त्वपूर्ण पहलू की तरफ़ ध्यान खींचते दिखाई देते हैं, और वह है पाठक। किसी भी पत्रिका या पुस्तक की सार्थकता व्यापक पाठक समुदाय तक पहुँचने में ही होती है। वरना लघु-पत्रिकाएँ रचनाकारों की रचनाएँ प्रकाशित करने हेतु रचनाकारों द्वारा निकाली गयी और रचनाकारों मात्र के लिए बन जाती हैं। इनके दायरे का, रचनाकारों तक महदूद होना इनकी बड़ी सीमा है।

संगठन और उसका दायित्व

संगोष्ठी में सर्वसम्मति से राष्ट्रीय स्तर पर लघु-पत्रिका समन्वय समिति नाम से एक संगठन की घोषणा की गयी।[26] इसका दायित्व था, लघु-पत्रिकाओं के बीच तालमेल और साझा लक्ष्यों की दिशा में काम करना। समिति का काम सुचारु रूप से चलाने के लिए एक 15 सदस्यीय स्थायी समिति गठित की गयी।[27] इसके दस लक्ष्य और कार्य तय किये गये।[28] इसमें कहा गया कि समिति विभिन्न लघु-पत्रिकाओं की स्वायत्तता क़ायम रखते हुए न्यूनतम साझा लक्ष्यों के लिए काम करेगी ताकि मौजूदा साहित्य-विरोधी माहौल की चुनौतियों का मिलकर सामना किया जा सके और एक नये सांस्कृतिक जागरण की ओर बढ़ने में मदद मिले। समन्वय समिति में दो प्रस्ताव सर्वसम्मति से पारित हुए। पहला प्रस्ताव *जतन* के सम्पादक तारा पांचाल ने रखा, जिसमें कहा गया था कि 'आज दुनिया में पश्चिमी साम्राज्यवाद का शिकंजा तेज़ी से कसता जा रहा है, जिसके कारण एशिया, अफ्रीका तथा लैटिन अमेरिकी देशों के स्वतंत्र अस्तित्व और पहचान पर गम्भीर ख़तरा उपस्थित है। दूसरी ओर हमारे समाज में नवजागरण तथा राष्ट्रीय स्वाधीनता संग्राम के ऊँचे आधुनिक आदर्शों को रौंदते हुए साम्प्रदायिक

---

[24] बुलेटिन-एक.

[25] वही : 17.

[26] वही : 20; इसका केंद्रीय दफ़्तर *पहल* का कार्यालय अर्थात् 101, रामनगर, आधारताल, जबलपुर बनाया गया और वार्षिक सदस्यता शुल्क 100 रुपये तय किया गया.

[27] सर्वसम्मति से कार्यसमिति गठित की गयी : ज्ञानरंजन (संयोजक), शंभुनाथ (संयुक्त संयोजक), हरीश भादानी, विजयकांत, धर्मेंद्र गुप्त, बृजबिहारी शर्मा, शंकर, गिरीशचंद्र श्रीवास्तव, तारा पांचाल, सुधीर विद्यार्थी, देश निर्मोही (सदस्य). शेष चार सदस्य यथाशीघ्र मनोनीत होंगे, ऐसा कहा गया : 20.

[28] इसके लिए देखिये, बुलेटिन-एक : 21-23.

और जातिवादी ताक़तें नये सिरे से सक्रिय हुई हैं। इधर भाषिक पृथकतावाद तथा अन्य संकीर्णताएँ भी पनपी हैं। लोगों को उनकी सांस्कृतिक जड़ों से विच्छिन्न किया जा रहा है और उपभोक्तावाद फैल रहा है। जन संचार माध्यम द्वारा सांस्कृतिक प्रदूषण फैलाया जा रहा है, जिसके कारण लोग अपसंस्कृति के दल-दल में फँस रहे हैं। बुनियादी मानवीय मूल्य आज गहरे संकट में हैं। लघु-पत्रिकाओं के सवाल पर आयोजित इस राष्ट्रीय संगोष्ठी में हम सभी लेखक और सम्पादक उपर्युक्त स्थितियों से चिंतित हैं। हम लोग एक स्वर से पश्चिमी साम्राज्यवाद, सांप्रदायिकता, जातिवाद, भाषिक पृथकतावाद, उपभोक्तावाद एवं सांस्कृतिक प्रदूषण का विरोध करते हैं तथा इनके ख़िलाफ़ साझी लड़ाई का संकल्प लेते हैं। इस लड़ाई में संगठित रूप से हिस्सा लेने के लिए हम सभी लोकतांत्रिक शक्तियों का आह्वान करते हैं।[29] दूसरा प्रस्ताव *अब* के सम्पादक अभय ने पेश किया। इस प्रस्ताव में कहा गया था कि 'आज़ादी के बाद से ही केंद्र और राज्य की सरकारें जिस तरह व्यावसायिक अख़बारों और पत्रिकाओं को विज्ञापन देने एवं सांस्कृतिक गतिविधियों के नाम पर जनता के पैसों का अपव्यय करती रही हैं, हम सम्पादक-लेखक उसे एक गम्भीर जनविरोधी और संस्कृति विरोधी कार्य मानते हैं। दूसरी ओर, सरकारों और उसके तंत्र ने सामाजिक सरोकारों के तहत निकल रही साहित्यिक लघु-पत्रिकाओं को लगातार नज़रअंदाज़ किया है। निस्संदेह हम अपनी पत्रिकाएँ समाज और पाठक वर्ग के सहयोग से निकालने के लिए प्रतिबद्ध हैं, लेकिन हम यह भी जानते हैं कि सरकारी संसाधन समाज से ही प्राप्त हैं और विज्ञापन तथा संस्कृति के नाम पर जो भी खर्च होता है, उस पर हमारा भी अधिकार है। हम सम्पादक-लेखक सरकारों द्वारा व्यावसायिक पत्र-पत्रिकाओं के पक्ष में अपनायी जा रही इस भेदभावमूलक विज्ञापन नीति का विरोध करते हैं एवं माँग करते हैं कि सरकारें लघु-पत्रिकाओं को भी विज्ञापन दें। वे इस संदर्भ में एक ठोस सकारात्मक नीति की शीघ्र घोषणा करें।'[30]

तारा पांचाल और अभय द्वारा पेश प्रस्तावों से समन्वय समिति के एजेंडे की जानकारी मिलती है। इसमें अपनी भूमिका की पहचान की गयी है जिसके निर्वाह के लिए आर्थिक आधार की भी खोज की गयी है। सरकार द्वारा दिये जा रहे विज्ञापनों पर अधिकार जताना लघु-पत्रिकाओं के बुनियादी आधार बनाने की चिंता को ज़ाहिर करता है। *पहल* के

राहुल सांकृत्यायन : अंतर्विरोधों में लय

समकालीन सृजन

काशी प्रसाद जायसवाल, नागार्जुन, राजीव सक्सेना, परमानन्द श्रीवास्तव, कमला सांकृत्यायन, हंसराज रहबर, मधुरेश, विजेंद्र नारायण सिंह, रामकृष्ण भट्टाचार्य, रामचन्द्र तिवारी, उर्मिलेश, वीरेन्द्र सिंह, श्रीनिवास शर्मा, मूलचन्द गौतम, बालशौरि रेड्डी, मानिक बच्छावत, चंद्रा पाण्डेय, शशि पोद्दार, अलका चट्टोपाध्याय, विवेक लाल, अरुण माहेश्वरी, रामनिहाल गुंजन और तुषार तालुकदार

निस्संदेह हम अपनी पत्रिकाएँ समाज और पाठक वर्ग के सहयोग से निकालने के लिए प्रतिबद्ध हैं, लेकिन हम यह भी जानते हैं कि सरकारी संसाधन समाज से ही प्राप्त हैं और विज्ञापन तथा संस्कृति के नाम पर जो भी ख़र्च होता है, उस पर हमारा भी अधिकार है।

---

[29] बुलेटिन-एक : 24.

[30] वही : 24-25, अभय द्वारा प्रस्तुत प्रस्ताव में ख़ास क़िस्म का द्वैध दिखता है. केंद्र व राज्य सरकारों और उसके विभिन्न तंत्रों द्वारा आयोजित सांस्कृतिक गतिविधियाँ और व्यावसायिक पत्र-पत्रिकाओं को दिये जा रहे विज्ञापन अगर 'गम्भीर जन-विरोधी' तथा 'संस्कृति विरोधी' हैं तो इसकी जद में सामाजिक सरोकारों के तहत निकल रही पत्रिकाओं को शामिल नहीं करना स्वाभाविक ही है. जबकि अभय के प्रस्ताव में 'सामाजिक सरोकारों के तहत निकल रही पत्रिकाओं को ऐसे विज्ञापन नहीं मिलने' का मलाल साफ़-साफ़ झलकता है. अगर सरकार के ये काम गम्भीर जन विरोधी एवं जनता के पैसे का अपव्यय है तो इसके नहीं मिलने का मलाल क्यों? इन विज्ञापनों पर अपना अधिकार जताना, इसमें भेदभाव की नीति मानना और सरकार से इस बाबत 'ठोस सकारात्मक नीति' की माँग महज़ विज्ञापन के लिए रस्साकशी प्रतीत होती है.

सहयोग से प्रकाशित पहले बुलेटिन में 63 लघु-पत्रिकाओं की सदस्यता सूची दर्ज है।[31] समन्वय समिति के संचालन हेतु जो कार्यकारिणी बनी, उसकी पहली बैठक 18 अप्रैल, 1993 को रायपुर में हुई। इस 'बैठक में कलकत्ता सम्मेलन के बाद के सामाजिक-सांस्कृतिक परिदृश्य का बहुआयामी विश्लेषण किया गया एवं सामाजिक जीवन के उच्चतर मूल्यों एवं आदर्शों के सामने साम्प्रदायिकता से उत्पन्न हो गये ख़तरों को रेखांकित किया गया। इस संदर्भ में सांस्कृतिक माध्यमों, विशेषकर लघु-पत्रिकाओं की बढ़ी हुई ज़िम्मेदारियों को महसूस करते हुए संकट की इस घड़ी में मिलजुल कर अपनी प्रखरतम भूमिका का ऐतिहासिक दायित्व निभाने की राय क़ायम की गयी।'[32]

रायपुर की बैठक में राष्ट्रीय लघु-पत्रिका समन्वय समिति की कार्यकारिणी हेतु रामकुमार कृषक (*अलाव*), विजय गुप्त (*साम्य*), मूलचंद गौतम (*परिवेश*) और राजाराम भादू (*दिशाबोध*) का मनोनयन किया गया।[33] इसके साथ ही निर्णय लिया गया कि 18-19 सितम्बर, 93 को कुरुक्षेत्र, हरियाणा में राष्ट्रीय लघु-पत्रिका समन्वय समिति के राष्ट्रीय सम्मेलन का आयोजन किया जाएगा। कुरुक्षेत्र सम्मेलन को साम्प्रदायिकता के सवाल पर केंद्रित करने और मुख्य अतिथि के तौर पर असगर अली इंजीनियर को आमंत्रित करने का निर्णय लिया गया।[34] इन निर्णयों के आधार पर भी कहा जा सकता है कि समन्वय समिति व्यापक सामाजिक-राजनीतिक सवालों का सामना करने की कोशिश कर रही थी।

बीसवीं सदी के अंतिम दशक की शुरुआत सोवियत संघ के विघटन से हुई। दुनिया एक ध्रुवीयता की ओर अग्रसर होने लगी। योगेंद्र यादव के अनुसार 'उस राष्ट्रीय क्षितिज पर एक साथ तीन मकार उभरे। ... ये तीन मकार हैं, मण्डल, मंदिर और मार्केट। विश्वनाथ प्रताप सिंह की सरकार ने अगस्त 1989 में जब अचानक पिछड़ों के लिए आरक्षण की सिफ़ारिशों को लागू कर दिया तब मण्डल पिछड़ों के उस आंदोलन का पर्याय बन गया। मंदिर से तात्पर्य संघ परिवार के राम जन्मभूमि आंदोलन से है जिसकी परिणति छह दिसम्बर, 1992 को बाबरी मस्जिद के ध्वंस में हुई। तीसरा मकार यानी मार्केट से आशय आर्थिक उदारीकरण और भूमण्डलीय अर्थव्यवस्था से जुड़ी नीतियों से है। चार दशकों तक समाजवाद का नाम लेने वाले नीति-निर्माताओं ने यकायक उलटे घूम जाने का निर्णय लिया। इस मुद्दे पर जनादेश लेने की तो दूर, उन्होंने मतदाताओं को इसके लिए आगाह भी नहीं किया। 1991 में कांग्रेस की एक अल्पमत सरकार के वित्त मंत्री मनमोहन सिंह ने इन नीतियों की घोषणा करके दुनिया को ही नहीं, भारतवासियों को भी हैरत में डाल दिया। इन नीतियों का नियंत्रण अब विश्व व्यापार संगठन (डब्ल्यूटीओ) के हाथों में है।'[35] राष्ट्रीय लघु-पत्रिका समन्वय समिति के समक्ष यही चुनौतियाँ थीं।

---

[31] समन्वय समिति के सदस्य बने 63 सम्पादकों की सूची के लिए देखें, बुलेटिन-1 : 29-30; इनके अलावा कई पत्रिकाओं के सम्पादकों ने सम्बद्धता शुल्क यथाशीघ्र भेजने का आश्वासन दिया था. इस बुलेटिन में बारह 'महत्त्वपूर्ण सूचनाएँ और सुझाव' भी प्रकाशित हैं : 26-28.

[32] बुलेटिन-2, अगस्त, 1993, *अब* द्वारा जारी, सासाराम (बिहार); रायपुर में सम्पन्न कार्यकारिणी की इस बैठक में ज्ञानरंजन (*पहल*), शंभुनाथ (*समकालीन सृजन*), शंकर (*अब*), गिरीशचंद्र श्रीवास्तव (*निष्कर्ष*), बृजबिहारी शर्मा (*क़तार*), तारा पांचाल (*जतन*) और देश निर्मोही (*पल प्रतिपल*) उपस्थित थे. इनके अलावा इस बैठक में विभु कुमार (*हस्ताक्षर*), राजेश जोशी (*इसलिए*), राघव आलोक (*दस्तक*), विजय गुप्त (*साम्य*), विनोद मिश्र (*बहुमत*) और लीलाधर मण्डलोई भी शामिल थे.

[33] वही : कोष्ठक में उस पत्रिका के नाम हैं, जिनका सम्पादन करते थे.

[34] वही.

[35] योगेंद्र यादव (2002), *लोकतंत्र के कायापलट की कहानी*, अभय कुमार दुबे (सम्पा.), *लोकतंत्र के सात अध्याय,* वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नयी दिल्ली : 52-53; बीसवीं सदी के आख़िरी दशक के बारे में यह बताने के बाद योगेंद्र यादव ने स्पष्ट किया है कि 'बेशक ये परिवर्तन उतने आकस्मिक नहीं थे जितने कि नज़र आते हैं. राजीव गाँधी के प्रधानमंत्रित्व काल के पहले दो सालों में इस तरह के कुछ परिवर्तनों की आहट सुनाई दी थी. उनके पहले दो बजटों से 1990 के दशक के आर्थिक

इसी दौरान लघु-पत्रिकाओं की भूमिका, आंदोलन की गति और आयाम पर *संवेद* ने अपना अंक केंद्रित किया। इस अंक में विजेंद्र नारायण सिंह,[36] कर्मेन्दु शिशिर,[37] शंभुनाथ,[38] बहादुर मिश्र,[39] प्रभाष प्रसाद वर्मा,[40] अरविंद कुमार,[41] बटरोही,[42] के आलेख और तारानंद,[43] प्रेमव्रत तिवारी,[44] रमेश नीलकमल,[45] राजनारायण वोहरा,[46] की टिप्पणियाँ प्रकाशित हुईं। इनके अलावा 27 जून, 1993 को प्रकाशित *आवाज़* में लघु-पत्रिकाओं के सम्पादकों द्वारा लेखकों के प्रति अपनाये जाने वाले रवैये पर सवाल खड़ा किया गया।[47] इसके साथ ही किसी पत्रिका को पहले पत्रिका के रूप में छापने और फिर उसे ही पुस्तक रूप में सजिल्द कर पुस्तकालयों, विश्वविद्यालयों या सरकारी संस्थानों में बेचने का मसला भी उठाया गया। इस व्यावसायिक पहलू से सम्पादकों का आर्थिक लाभ जुड़ा था, जिसमें लेखकों को कोई हिस्सा नहीं दिया जा रहा था। समन्वय समिति ने अपने बुलेटिन में इस मुद्दे पर कहा कि 'इस पर जल्दबाज़ी में कोई राय नहीं क़ायम की जा सकती।' साथ ही यह भी कहा गया कि 'हम सभी जानते हैं, लोकोन्मुख साहित्य को ज़्यादा से ज़्यादा पाठकों तक पहुँचाना, इसके लिए एक नया पाठक वर्ग तैयार करना और पहले से मौजूद परम्परागत पुस्तक-पाठक वर्ग में अपनी पैठ बनाना लघु-पत्रिका प्रकाशन की मुख्य कार्यनीति होती है। यदि कोई पत्रिका कुछ अंकों को पुस्तक रूप प्रदान कर पहले से मौजूद परम्परागत पुस्तक-पाठक वर्ग में अपनी पैठ बनाती है, तो वह अपने घोषित लक्ष्य को ही आगे बढ़ाती है। ऐसा
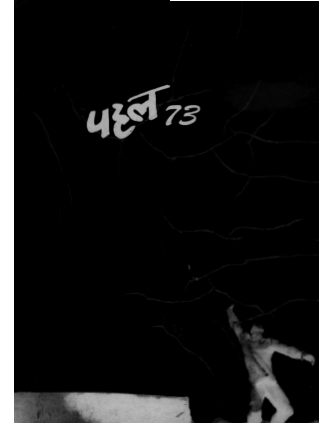
यदि कोई पत्रिका कुछ अंकों को पुस्तक रूप प्रदान कर पहले से मौजूद परम्परागत पुस्तक-पाठक वर्ग में अपनी पैठ बनाती है, तो वह अपने घोषित लक्ष्य को ही आगे बढ़ाती है। ऐसा करके वह अपनी सामग्री को पत्रिका के पाठक वर्ग तक पहुँचाने के साथ-साथ पुस्तकों के पाठक वर्ग तक भी पहुँचा देती है।

सुधारों के संकेत सबसे पहले मिले थे. यह बात अपने आप में काफ़ी विडम्बनापूर्ण है कि ये दोनों ही बजट विश्वनाथ प्रताप सिंह ने पेश किये थे. यह भी सच है कि इन तीन मकारों की शुरुआत के लक्षण पहले चरण में भी मौजूद थे, दक्षिणी राज्यों में अपने अधिकारों के लिए अन्य पिछड़े वर्गों ने 1960 के दशक से ही दबाव बनाना शुरू कर दिया था, गोहत्या के विरोध में हिंदू कट्टरपंथियों ने 1966 में अभियान छेड़ा था और 1974 में सरकार को गेहूँ के थोक व्यापार के राष्ट्रीयकरण के अपने फ़ैसले को बदलना पड़ा था, लेकिन ये प्रवृत्तियाँ नब्बे के दशक में ही राष्ट्रीय स्तर पर राजनीतिक एजेंडे पर हावी हुईं.'

[36] *संवेद* (1993), सम्पा. किशन कालजयी, 'लघु-पत्रिका : विचारधारा और सामाजिक सरोकार' अंक-3, जून: 5-10.

[37] 'लघु-पत्रिकाओं की भूमिका' : वही : 11-15.

[38] 'लघु-पत्रिका आंदोलन के नये आयाम', वही : 16-19.

[39] 'नवजागरण और लघु-पत्रिकाएँ', वही : 20-27.

[40] 'लघु-पत्रिका की समस्याएँ और चुनौतियाँ', वही : 28-33.

[41] 'लघु-पत्रिकाएँ और पाठक वर्ग', वही : 34-38.

[42] 'लेखक, सम्पादक और पाठक', वही : 39-47.

[43] वही : 112-113.

[44] वही : 114-117.

[45] वही : 118-120.

[46] वही : 121-123.

[47] बुलेटिन-2, *अब* द्वारा जारी (अगस्त, 1993), 'लघु-पत्रिकाएँ : कुछ सवाल' : 15.

करके वह अपनी सामग्री को पत्रिका के पाठक वर्ग तक पहुँचाने के साथ-साथ पुस्तकों के पाठक वर्ग तक भी पहुँचा देती है।' इसी बात को आधार प्रदान करते हुए कहा गया है कि 'यदि हम पुस्तक प्रकाशन के सम्पूर्ण परिदृश्य को देखें तो यह बात पूरी तरह से स्पष्ट हो जाएगी कि हिंदी की कुछेक ज़िम्मेदार लघु-पत्रिकाओं ने चीनी साहित्य, पाकिस्तानी साहित्य, अफ़्रीकी साहित्य, मार्क्सवादी सौंदर्यशास्त्र, नया इतिहास, राहुल सांकृत्यायन आदि विषयों पर केंद्रित अपने विशेषांकों को पुस्तक रूप में करके पुस्तकों के संसार में कितना गुणात्मक परिवर्तन ला दिया है, उसे कितना समृद्ध किया है और एक नया पाठक-वर्ग बनाने के साथ-साथ पहले से मौजूद परम्परागत पुस्तक-पाठक वर्ग में पैठ करने के लक्ष्य को कितने सुनियोजित तरीक़े से आगे बढ़ाया है। इसे व्यावसायिक उपक्रम कदापि नहीं माना जा सकता है।' लेकिन ऐसा नहीं है कि समन्वय समिति ने यह सब कह कर इस मसले को बिल्कुल ख़ारिज कर दिया हो। बल्कि उसने यह भी कहा कि 'निस्संदेह इस बिंदु पर आत्मपरीक्षण की ज़रूरत उन पत्रिकाओं के संदर्भ में है जिन्होंने लघु-पत्रिकाओं के कलेवर में जिस-तिस सामग्री को प्रकाशित किया, छापने के लिए लेखकों से पैसे लिए और फिर उसे पुस्तक रूप में करके व्यवसाय का दृष्टिकोण अपनाया। एक ही कार्यप्रणाली में कार्य कर रही विभिन्न लघु-पत्रिकाएँ यदि नीयत के धरातल पर अलग-अलग हैं तो यह सम्पूर्ण रूप से आत्मपरीक्षण का ही मामला है।'[48] यहाँ सवाल उठता है कि जिन लघु-पत्रिकाओं की नीयत भी ठीक हो और उन्होंने पत्रिका के अंक को पुस्तक के रूप में प्रकाशित कर 'परम्परागत पुस्तक-पाठक वर्ग में पैठ बनाया हो' तो उसे व्यावसायिक उपक्रम क्यों नहीं माना जाना चाहिए? इस प्रक्रिया के तहत लघु-पत्रिकाओं के प्रकाशक-सम्पादक को मिलने वाले मुनाफ़े में से रचनाकारों को भुगतान क्यों नहीं किया जाता है? उल्लेखनीय है कि संपादन-संचालन अवैतनिक-अव्यावसायिक क़रार दे कर कई लघु-पत्रिकाएँ तकनीकी रूप से अपने को भले ही बचा लेती हैं परंतु परोक्ष-अपरोक्ष रूप से उनके कारोबार पर सवाल उठते रहते हैं।[49] इन सवालों के मद्देनज़र कथाकार प्रियंवद के सुझाव ग़ौरतलब हैं।[50]

इन संगठनात्मक-संरचनात्मक सवालों के अलावा भी, लघु-पत्रिकाओं पर भी, प्रश्न खड़े किये जाते रहे हैं। उनकी आलोचना होती रही है। पहले राष्ट्रीय सम्मेलन में रविभूषण की टिप्पणी इस सिलसिले में द्रष्टव्य है।[51] वैसा ही मत, कुछेक लघु-पत्रिकाओं को देख कर, कर्मेन्दु शिशिर ने भी प्रगट किया था। उनका कहना था कि 'आज की कई पत्रिकाएँ इतनी बेअसर और अर्थहीन लगती हैं

---

[48] बुलेटिन-2. पृ. 15.

[49] अश्विनी कुमार (2010), 'आलोचना बनाम फ़तवेबाज़ी', *पाखी,* नोएडा, मार्च. लघु-पत्रिकाओं के कारोबार को लेकर जो सवाल उठते हैं, उनका तार्किक और ठोस जवाब न आना चिंताजनक है.

[50] प्रियंवद ने अपने पर्चे में कुछ सुझाव पेश किये हैं. ये सुझाव इस चिंता की उपज हैं कि यदि लघु-पत्रिकाएँ आपस में कोई साझा रणनीति, संगठन और सहयोगी भावना विकसित नहीं कर पाईं तो बिखरी लघु-पत्रिकाओं की भूमिका व प्रासंगिकता अंततः दूसरे धंधों की तरह, एक दिन मात्र आर्थिक उपार्जन के माध्यम के रूप में सिमट कर रह जाएगी. शायद राजनीतिक सत्ताएँ यही चाहती भी हैं. 'सुझाव है : जिस प्रकार पत्रिकाएँ अपने प्रकाशन के ब्योरे प्रकाशित करती हैं, उसी तरह अपना वार्षिक आय-व्यय का लेखा-जोखा प्रकाशित करें. यह पारदर्शी रूप से सार्वजनिक हो कि पत्रिका को कहाँ से कितना धन मिला और कहाँ कितना धन गया. प्रकाशक अथवा सम्पादक की आजीविका, आर्थिक सुरक्षा व सम्पन्नता पत्रिका के लम्बे जीवन के लिए आवश्यक है और इसे सुनिश्चित किये जाने वाले साधनों की गोपनीयता ज़रूरी नहीं है.'

[51] रविभूषण ने कहा था कि 'जिस तरह राजनीति में घुसपैठिये आ जाते हैं, उसी तरह लघु-पत्रिकाओं में भी घुसपैठिये आ गये हैं. हिंदी प्रदेश के पाठक उतने अज्ञानी नहीं हैं, जितने सम्पादक. सम्पादकों के पास चयन दृष्टि होगी, तभी उसे पाठक मिलेंगे.' इसका विरोध करते हुए रमणिका गुप्ता ने कहा था कि 'सभी लघु-पत्रिकाएँ एक स्तर की नहीं हो सकतीं. सभी पत्रिकाएँ *पहल* नहीं हो सकतीं. सभी कवि निराला नहीं हो सकते. कुछ लघु-पत्रिकाएँ शैशवावस्था में हो सकती हैं, परामर्श और प्रशिक्षण देकर हमें उन्हें उन्नत करना होगा.' देखें, लघु-पत्रिकाओं पर पहली राष्ट्रीय संगोष्ठी (कोलकाता), 'यह एक बहुत महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक क्षण है!', बुलेटिन-एक : 17.

कि उनके निकालने की कोई सार्थकता समझ में नहीं आती। उनमें कहीं समाज और संस्कृति को तात्कालिक और दूरगामी स्तरों पर प्रभावित करने वाली ख़तरनाक कोशिशों का रेखांकन नहीं मिलता। ये साहित्य की स्वायत्त दुनिया में यशवाली आत्ममुग्धता की शिकार हैं। इस दृष्टि से विचार कीजिए तो लगेगा, इनकी चिंताएँ संकुचित हुई हैं। कुछ तो प्रच्छन्न व्यावसायिकता की विवशता में भी आ गयी हैं ... इसलिए लघु-पत्रिकाओं से तल्ख़ आत्मालोचना की अपेक्षा है और उनके और अधिक दायित्वपूर्ण होने की कामना भी।'[52] कर्मेन्दु शिशिर के मुताबिक़ ' ... हमारे समय में क्या ज़रूरत है, इसमें क्या ऐसा है, जो सिर्फ़ लघु-पत्रिकाएँ ही दे सकती हैं, बड़ी पत्रिकाएँ नहीं; इसी बिंदु पर इनकी सार्थकता टिकी है। जिस हद तक वे ऐसा कर पा रही हैं, उसी हद तक इनकी ज़रूरत क़ायम है।'[53] इसीलिए 'लघु-पत्रिकाओं का सम्पादक होना बस इतना नहीं है कि किसी तरह संसाधन जुटा लिया जाए और लेखकों से कहानी, कविता या समीक्षा माँगकर प्रकाशित कर दिया जाए। सम्पादक को समय, समाज और संस्कृति की दशा और दिशा तफ़सील में की जानकारी होनी चाहिए, उससे उपजी समझ होनी चाहिए, करणीय का विवेक होना चाहिए। वे बेहतर समाज के लक्ष्य को ध्यान में रखकर पत्रिका की सामग्री प्रस्तुत करें ...।'[54]

ऐसे मतों पर रायशुमारी करते हुए शंभुनाथ ने लिखा है कि 'ऐसा बिल्कुल सम्भव है कि सभी लघु-पत्रिकाएँ समान साहित्यिक स्तर की न हों। कुछ बिना किसी नैतिक और वैचारिक बेचैनी के महज वाग्विलास या किसी क्षुद्र स्वार्थ की पूर्ति के लिए भी निकली हो सकती हैं। इस हालत में देखना चाहिए कि अंततः इनमें साहित्यिक और सामाजिक चेतना का धीरे-धीरे ही सही विकास घटित हो रहा है या नहीं। समझदारी के अभाव में कई साहित्यिक पत्रिकाओं में साहित्यिक चेतना का स्तर बहुत पिछड़ा होता है और व्यापक सम्पर्क के अभाव में वे एक निश्चित दायरे से बाहर झाँक नहीं पातीं। उन्हें उपेक्षा और तिरस्कार की नज़रों से देखने के स्थान पर लघु-पत्रिका की वास्तविक धारणा के निकट लाना होगा। समाज में सभी जगह साहित्यिक और सामाजिक चेतना का स्तर समान नहीं है। अतः यह लघु-पत्रिका आंदोलन का काम है कि साहित्यिक पत्रिकाओं की स्वायत्तता की रक्षा करते हुए, उनका आपसी सम्पर्क बनाकर वैचारिक अंतःक्रिया की प्रक्रिया तेज़ करे और साधारण स्तर की साहित्यिक पत्रिकाओं को भी अपने आंदोलन की धार से पुख़्ता बनाये।'[55]
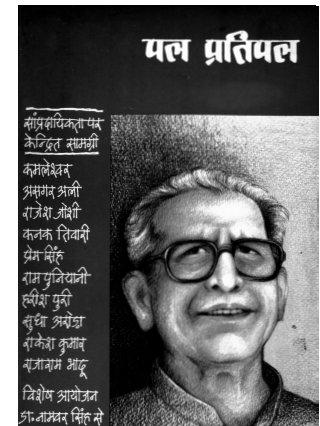
लघु-पत्रिकाओं का सम्पादक होना बस इतना नहीं है कि किसी तरह संसाधन जुटा लिया जाए और लेखकों से कहानी, कविता या समीक्षा माँगकर प्रकाशित कर दिया जाए। सम्पादक को समय, समाज और संस्कृति की दशा और दिशा की तफ़सील में जानकारी होनी चाहिए, उससे उपजी समझ होनी चाहिए, करणीय का विवेक होना चाहिए।

---

[52] *संवेद-3*, जून 1993 : 11.

[53] वही : 12.

[54] वही : 14.

[55] वही : 16.

आंदोलन का आधार

समन्वय समिति का दूसरा राष्ट्रीय सम्मेलन कुरुक्षेत्र में न हो कर जमशेदपुर में 14-15 मई, 1994 को हुआ। कथाकार भीष्म साहनी की अध्यक्षता में सम्पन्न इस सम्मेलन में रमेश उपाध्याय ने लघु-पत्रिकाओं पर एक पर्चा पढ़ा। उपाध्याय का यह लेख बाद में *उत्तरार्द्ध* में (नवम्बर, 1994) छपा। इनके 'इस लेख में लघु-पत्रिकाओं की बुरी हालत और उनके सम्पादकों में ग़ैर-ज़िम्मेदारी की प्रवृत्ति के बारे में कई बातें ख़री-ख़री कही गयी हैं। लेकिन इसमें पत्रिका निकालने वालों की धुन, लगन, उत्साह और संघर्ष के प्रति पर्याप्त संवेदनशीलता नहीं दिखाई देती, यह बात उपरोक्त सम्मेलन में भीष्म साहनी ने भी कही थी।'[56] *उत्तरार्द्ध* में ही लघु-पत्रिका आंदोलन पर प्रश्न खड़ा करते हुए वीर भारत तलवार ने लिखा कि 'पिछले कुछ सालों से बाक़ायदा संगठन बनाकर लघु-पत्रिकाओं का एक आंदोलन खड़ा करने की कोशिश चल रही है। क्या सचमुच ऐसा कोई आंदोलन खड़ा हो सका है?' बकौल तलवार 'आंदोलन खड़ा करने के लिए कोई आधार होना चाहिए। एक आधार व्यावसायिक पत्रिकाओं का विरोध करना हो सकता है लेकिन आज हिंदी में व्यावसायिक साहित्यिक पत्रिकाएँ हैं ही कहाँ, जिसका विरोध किया जाए? *सारिका, धर्मयुग* और *साप्ताहिक हिंदुस्तान* जैसे सेठों के संस्थानों से निकलने वाली पत्रिकाएँ बंद हो चुकी हैं। इसलिए, उन्होंने पूछा कि 'लघु-पत्रिका आंदोलन किसके विरोध में संगठित होगा? *हंस* के?'[57] परंतु '*हंस* को व्यावसायिक पत्रिका नहीं कहा जा सकता। *हंस* लोकप्रिय पत्रिका है, कुछ साधन-सम्पन्न पत्रिका है लेकिन वह पूँजीवादी और साम्राज्यवादी खेमे का समर्थन करने वाली पत्रिका नहीं है, इनका विरोध करने वाली पत्रिका है। वह अपने लेखकों का आर्थिक शोषण करती है, इसका विरोध करना चाहिए। उसकी सम्पादकीय अनीतियों और मनमानियों की आलोचना करनी चाहिए लेकिन *हंस* के विरोध में लघु-पत्रिकाओं का कोई आंदोलन खड़ा नहीं किया जा सकता। हंस के सम्पादक ने अगर लघु-पत्रिकाओं पर कोई व्यंग्य-कटाक्ष किया है तो उसे भी आंदोलन का मुद्दा नहीं बनाया जा सकता। *हंस* में बहुत-सी गड़बड़ियाँ हैं, जिसके लिए उसका सम्पादक ज़िम्मेदार है। उसका जवाब लघु-पत्रिकाओं की रचनाओं का स्तर ऊँचा उठाकर, उनकी उम्र बढ़ाकर और उन्हें नियमित बनाकर ही दिया जा सकता है।'[58]

लघु-पत्रिका और इसके आंदोलन पर जो भी सवाल खड़े किये जाते थे, समन्वय समिति के संयुक्त संयोजक शंभुनाथ उसका जवाब देते थे। शंभुनाथ ने वीर भारत तलवार के प्रश्नों का जवाब देते हुए *उत्तरार्द्ध* के अगले अंक में लिखा कि *हंस* के विरोध में लघु-पत्रिका आंदोलन के 'निशाने पर नकली दुश्मनों को अथवा जो दुश्मन नहीं है उन्हें ही, हमारे साथी, पता नहीं किस मकसद से रखना चाहते हैं। हम *हंस* को भी एक लघु-पत्रिका मानते हैं, वह खुद अपने को जो समझे।'[59] इसलिए 'लघु-पत्रिका को उसके (*हंस*) विरोध में खड़ा हुआ बताना एक बड़ी ग़लतफ़हमी है। जिस लघु-पत्रिका आंदोलन की परम्परा इतनी गौरवशाली है, उसका मक़सद इतना छोटा नहीं हो सकता।'[60]

---

[56] वीर भारत तलवार (1995), वही : 67 पर उद्धृत.

[57] वही : 67.

[58] वही, यहाँ क़ाबिले ज़िक्र है कि तलवार *हंस* को 'लोकप्रिय', 'कुछ साधन सम्पन्न' और पूँजीवाद-साम्राज्यवाद का विरोध करने वाली पत्रिका मानते हैं. पर सवाल खड़ा होता है कि क्या कोई 'लोकप्रिय' पत्रिका व्यावसायिक पत्रिका नहीं हो सकती? इसे उलट कर पूछें तो क्या कोई व्यावसायिक पत्रिका 'लोकप्रिय पत्रिका' नहीं हो सकती?

[59] शंभुनाथ (1995), 'लघु-पत्रिका आंदोलन : सामर्थ्य और सीमा', *उत्तरार्द्ध,* अंक 40 : 54 (यह लेख 'बहस' के अंतर्गत छपा है.) शंभुनाथ *हंस* को लघु-पत्रिका मानते हैं, जबकि तलवार ने इसके लिए 'लघु-पत्रिका' शब्द का उपयोग नहीं किया है. ऐसे में *हंस* के सम्पादक राजेंद्र यादव का मत जानना ज़रूरी है. यादव *हंस* को 'मॉडर्न लघु-पत्रिका' मानते हैं. स्पष्ट नहीं है कि मॉडर्न से उनका मतलब क्या है. देखें, *नयी दुनिया,* नयी दिल्ली, 26 सितम्बर 2010 : 8.

[60] उत्तरार्द्ध, वही : 55.

'*हंस* लोकप्रिय पत्रिका है, कुछ साधन-सम्पन्न पत्रिका है लेकिन वह पूँजीवादी और साम्राज्यवादी खेमे का समर्थन करने वाली पत्रिका नहीं है, इनका विरोध करने वाली पत्रिका है। वह अपने लेखकों का आर्थिक शोषण करती है, इसका विरोध करना चाहिए। उसकी सम्पादकीय अनीतियों और मनमानियों की आलोचना करनी चाहिए लेकिन *हंस* के विरोध में लघु-पत्रिकाओं का कोई आंदोलन खड़ा नहीं किया जा सकता।'

शंभुनाथ ने स्पष्ट किया है कि 'हमारे मुख्य निशाने पर हैं बड़े संचार-माध्यम और इनके द्वारा फैलाया जा रहा सांस्कृतिक प्रदूषण। हिंदी समाज एक बड़ा अंतर्राष्ट्रीय बाज़ार बनने जा रहा है। टीवी के सबसे अधिक प्रायोजित कार्यक्रम हिंदी में हैं एवं सबसे फूहड़ भी। हिंदीभाषी बच्चे दूसरों की तुलना में ज़्यादा टीवी देखते हैं। इसका दुखद नतीजा है कि हमारे समाज में पढ़ने की संस्कृति में तेज़ी से गिरावट आ रही है। हिंदी शिक्षक, अधिकारी, यहाँ तक कि कई लेखक भी अब नहीं पढ़ते। ये समस्याएँ हर समाज में हैं, पर हिंदी समाज में अधिक व्यापक है। अत: लघु-पत्रिकाओं का ही यह काम है कि पढ़ने की संस्कृति के संरक्षण के लिए पाठक चेतना अभियान चलाएँ। वे सांस्कृतिक प्रदूषण का विरोध करें। इसके अलावा हमारे मुख्य निशाने पर हैं, सांप्रदायिक-जातिवादी पुनरुत्थान की ताक़तें। हमें लड़ना है बहुराष्ट्रीय उपनिवेशवाद और नये अंग्रेज़ीकरण से। लघु-पत्रिका आंदोलन के ये ही प्रमुख आधार हैं।'[61] इस वक्तव्य में शंभुनाथ तलवार के जवाब में लघु-पत्रिका आंदोलन के आधार की चर्चा करते हुए लगे। तलवार का कहना था कि 'लघु-पत्रिकाओं का आंदोलन खड़ा करने का एक दूसरा आधार इनके नियमित प्रकाशन और बिक्री के रास्ते में आने वाली अड़चनों को दूर करना हो सकता है। इसमें ख़ास समस्या काग़ज़ और छपाई की बढ़ती लागत और बिक्री व्यवस्था का अभाव है।' हालाँकि 'काग़ज़ और छपाई की समस्या का हल सिर्फ़ लघु-पत्रिकाओं के आंदोलन से मुमकिन नहीं। इसके लिए राजनीतिक दबाव, प्रशासनिक कार्यवाही और आर्थिक सुधार के व्यापक आंदोलन की ज़रूरत पड़ेगी। लघु-पत्रिका आंदोलन चलाने वालों ने इस समस्या पर ठोस कार्यक्रम अभी तक नहीं बनाया।'[62] शंभुनाथ ने लघु-पत्रिका आंदोलन के मुख्य आधार को बताने के बाद टिप्पणी की है कि यह आंदोलन 'कभी भी सिर्फ़ बिक्री, काग़ज़, छपाई आदि समस्याओं तक सीमित नहीं है, हालाँकि ये भी बड़े मुद्दे हैं। कुछ को लघु-पत्रिकाओं का एक-एक कर बंद होना दिखता है, लेकिन जो निकलती हैं और नयी शुरू होती हैं, वे नहीं दिखतीं।' लघु-पत्रिका आंदोलन की आलोचनाओं के मद्देनज़र इन्होंने लिखा है कि 'लघु-पत्रिकाओं तथा लघु-पत्रिका आंदोलन की सकारात्मक आलोचना एक बात है और सम्पूर्ण रूप से नकारात्मक या उपेक्षामूलक रुख एक बिल्कुल दूसरी बात।'[63]

साठ-सत्तर के दशक से बीसवीं सदी के अंतिम दशक के लघु-पत्रिका आंदोलन पर नज़र डालते हुए डॉ. तलवार ने लिखा है कि 'आज (अंतिम दशक में) वह (साठ-सत्तर के दशक की) फ़िज़ा

---

[61] उत्तरार्द्ध, 1995, पृ. 55; शंभुनाथ ने हिंदी समाज की कमियों के बारे में जो मत पेश किया है, उसका आधार क्या है, इसे नहीं बताया है.

[62] उत्तरार्द्ध (1995), अंक 39 : 67.

[63] उत्तरार्द्ध (1995), अंक 40 : 55.

नहीं है। वह चेतना और रचनाशीलता नहीं दिखाई देती जो ऐसी आंदोलन के पीछे होती है। आज जो लघु-पत्रिका आंदोलन खड़ा किया जा रहा है, उसमें ज़्यादा-से-ज़्यादा यह हुआ कि कुछ लोग आपस में संगठित हो गये हैं। इस संगठन शक्ति से कुछ फ़ायदा हो सकता है लेकिन लघु-पत्रिका आंदोलन के लिए जिस फ़िज़ा, चेतना और रचनाशीलता की ज़रूरत है, उसे पैदा करने में यह संगठन असमर्थ है।' इसके साथ ही तलवार ने लघु-पत्रिकाओं के प्रकाशन की अनियमितता आदि मुद्दों पर टिप्पणी करते हुए लिखा कि 'लघु-पत्रिकाओं की बिक्री बढ़ जाए, छपाई सस्ती हो जाए, इसी से लघु-पत्रिकाएँ महत्त्वपूर्ण नहीं हो जाएँगी चाहे वे नियमित निकलें या अनियमित, चाहे बहुतों तक पहुँचे या कुछ ही लोगों तक सबसे बड़ी बात उनकी रचनाओं का स्तर है। 1950-60 के दशक में कुछ पत्रिकाओं का एक ही अंक निकला जैसे *निकष, संकेत;* लेकिन उनमें छपी महान् रचनाओं के लिए आज भी उन अंकों को याद किया जाता है।'[64] इस आलोचना पर मत व्यक्त करते हुए शंभुनाथ ने लिखा है कि 'लघु-पत्रिका की विगत परम्परा के संबंध में वीर भारत तलवार का रुख सुखद रूप से सकारात्मक है। लेकिन वर्तमान युग की लघु-पत्रिकाओं में अच्छी रचनाएँ बिल्कुल नहीं छप रही हैं, कहीं कोई चेतना या दायित्वबोध नहीं है और लघु-पत्रिका आंदोलन के नये दौर को एकदम नकार देना, एक निराश और रुआँसे बुद्धिजीवी की, अतीत क़ैद को दर्शाता है, फ़िज़ा नहीं है तो आगे बढ़ कर तैयार करें।' क्योंकि 'आज *धर्मयुग* और *साप्ताहिक हिंदुस्तान* से ज़्यादा बड़ी चुनौतियाँ हैं।' इसलिए सिर्फ़ रोने-धोने और निराशा का बौद्धिक प्रचार करने से हम पुनरुत्थानवाद और बहुराष्ट्रीय साम्राज्यवाद के मक़सद ही पूरे करेंगे। लघु-पत्रिका आंदोलन पर लगाये गये असमर्थता के आरोप का जवाब देते हुए शंभुनाथ ने लिखा है कि 'लघु-पत्रिका आंदोलन या लेखकों का कोई भी आंदोलन किसी फ़ैक्ट्री के उन मज़दूरों के आंदोलन-सा नहीं हो सकता, जो एक जगह काम करते हैं, एक आह्वान पर तुरंत इकट्ठे हो जाते हैं और आंदोलन करके तुरंत कुछ हासिल भी कर लेते हैं। प्रायः सभी लेखक-सम्पादक अलग-अलग नगरों में रहने वाले हैं, नौकरीपेशा हैं और जुझारू नागरिक हैं— उनके ढेरों दायित्व और निजी समस्याएँ हैं। बहुत सारी जटिलताओं के बीच वे लिखते हैं, पत्रिका निकालते हैं, डाक से पाठकों के पास भेजते हैं और साहित्य के दूसरे ढेरों काम सम्पन्न करते हैं। अपनी बहुत-सी ज़रूरतों में कटौती करके वे दस उपायों से किसी गहन नैतिक बेचैनी में पत्रिका निकालते हैं। उनकी वैचारिक खदबदाहट उन्हें ऐसे कर्म में नाधे रहती है, भले कोई व्यापक आंदोलन पैदा हो या नहीं। ऐसे लेखकों-सम्पादकों के आंदोलन को मज़दूर आंदोलन की शैली में नहीं चलाया जा सकता और तत्काल कोई अच्छा फल लाकर नहीं दिखाया जा सकता है। हर लघु-पत्रिका अपने नगर और समूचे सांस्कृतिक वातावरण में अपने ढंग से लड़ती है। ऐसी लघु-पत्रिकाएँ यदि संवाद, तालमेल और साझा सांस्कृतिक अभियान के लिए एक छत के नीचे इकट्ठा हुई हैं तो इन्हें संदेह से देखने की जगह सहयोग के भाव से देखना चाहिए और जहाँ हतोत्साहित करने वाले वैसे ही ढेरों तत्त्व हैं, वहाँ एक और तत्त्व पैदा नहीं करना चाहिए। सच पूछिये तो आंदोलन के नाम पर इस हमारे समाज में संकीर्ण उभारों के अतिरिक्त कितना क्या बचा है कि हम लघु-पत्रिका आंदोलन से बहुत बड़ी फ़िज़ा की उम्मीद लगाएँ। हम-आप ही तो हैं, अब चाहे इन ढिबरियों को बुझा दें या मिलकर थोड़ा और रोशन करें। निश्चय ही हमारे समय के संकीर्णतावादी पुनरुत्थान और बाजारवाद मनुष्य की आख़िरी नियति नहीं है। इसी तरह सांस्कृतिक नवजागरण की प्रक्रिया और साहित्यिक उत्सुकता भी ठहराव के इसी बिंदु पर थमी रहने वाली चीज़ें नहीं हैं।'[65]

---

[64] उत्तरार्द्ध (1995), अंक 39 : 68.

[65] उत्तरार्द्ध (1995), अंक 40 : 55.

हिंदी साहित्य के अतीत से लघु-पत्रिकाओं को जोड़ते हुए शंभुनाथ का तर्क था कि 'पहले की *कविवचन सुधा, मतवाला, हंस* आदि पत्रिकाएँ अपने को लघु नहीं कहती थीं, क्योंकि उनके ज़माने में व्यावसायिक ह्रास नहीं था। और उस ज़माने में उनसे बड़ी पत्रिकाएँ भी नहीं थीं।' अपने मत को विस्तार देते हुए उन्होंने लिखा कि 'इस तथ्य को कभी अनदेखा नहीं करना चाहिए कि नियमित और व्यवस्थित ढंग से निकलने वाली उन पत्रिकाओं के सम्पादकों को सामान्यत: अर्थव्यवस्था की चिंता नहीं करनी पड़ती थी। जूता सिलाई से चण्डी पाठ तक सारे काम नहीं करने पड़ते थे। उन पत्रिकाओं के सामने कम मुसीबतें नहीं थीं, लेकिन जो सहूलियतें थीं, उनको छिपाना नहीं चाहिए।'[66] यहाँ दिक़्क़ततलब बात यह है कि अतीत की जिन तीन पत्रिकाओं का नाम शंभुनाथ ने एक साथ लिया, वे तीनों एक तरह की नहीं थीं। साहित्यिक पत्रिका होना ही इन तीनों को एक सूत्र में जोड़ता था। पर इन तीनों की प्रकृति में भी अंतर था। यह मान्यता कि उन पत्रिकाओं के सम्पादकों को सामान्यत: आर्थिक चिंता नहीं करनी पड़ती थी— पूरा सच नहीं है। इन तीनों में *मतवाला* के सम्पादकों को ख़र्चे की चिंता नहीं करनी पड़ती थी। मिर्ज़ापुर के रहने वाले सेठ महादेव प्रसाद *मतवाला* के संचालक-सम्पादक थे, लिहाज़ा ख़र्चे का ज़िम्मा उसके 'सम्पादक मण्डल' पर नहीं था। साहित्य-सेवा के साथ-साथ इसके प्रकाशकों के लिए *मतवाला* लाभ का कारोबार भी था। इस पत्रिका की दिलचस्प अंतर्कथा कर्मेन्दु शिशिर ने लिखी है, जिससे इसके इन पक्षों का पता चलता है।[67] *कविवचन सुधा* और *हंस* दूसरी तरह की पत्रिका थी। इसके सम्पादक तथा प्रकाशक भारतेंदु और प्रेमचंद स्वयं साहित्यकार थे और उन्हें पत्रिका निकालने हेतु अर्थव्यवस्था की चिंता भी करनी पड़ती थी। बड़े सेठ परिवार से आने के बावजूद भारतेंदु ने जिन वज़हों से *कविवचन सुधा* का प्रकाशन बंद किया, उनमें आर्थिक दिक़्क़त भी एक कारण था।[68]

रही बात 'जूता सिलाई से चण्डी पाठ तक' की तो यह सम्पादकों की वर्गीय स्थिति एवं पत्रिका

---

[66] वही : 52.

[67] मिर्ज़ापुर के रहने वाले पत्थर के बड़े व्यवसायी खत्री परिवार से आने वाले युवक महादेव प्रसाद सेठ को साहित्य का स्वाद लग चुका था. उनके लेख भी *हिंदी प्रदीप, अभ्युदय* और *सरस्वती* में छप चुके थे. उनका मन पारिवारिक व्यवसाय में नहीं रमा और साहित्य सम्मेलन में पंद्रह रुपये की नौकरी रास आयी. यह उनके परिवार की प्रतिष्ठा के प्रतिकूल था. परिवार के बुजुर्गों ने नसीहत दी— अगर साहित्य में ही मन रमता है तो इससे जुड़ा व्यवसाय ही करो, चाकरी नहीं. महादेव प्रसाद को व्यवसाय और व्यसन के संयोग की बात जँच गयी. कलकत्ता आये और सुलभ ग्रंथ प्रचारक मण्डल शुरू किया. पैसा लगाया महादेव प्रसाद ने और बाक़ी ज़िम्मा सँभाला *वीर भारत* साप्ताहिक के सम्पादकीय विभाग में नौकरी कर रहे मुंशी नवजादिक लाल श्रीवास्तव ने, जो डाकिये का काम भी कर चुके थे. व्यवसाय चल पड़ा. उत्साहित महादेव प्रसाद ने *हिंदी प्रदीप* के सम्पादक बालकृष्ण भट्ट के नाम पर एक प्रेस खोला बालकृष्ण प्रेस. इसी प्रेस से *मतवाला* साप्ताहिक छपता था. *मतवाला* का नामकरण और सूर्यकांत त्रिपाठी का तख़ल्लुस 'निराला' मुंशी नवजादिक लाल की ही देन थी. कुछ ही अंकों के बाद *मतवाला* की प्रसार-संख्या दस हज़ार हो गयी. सेठ महादेव प्रसाद के तीनों व्यवसाय—प्रकाशन, प्रेस और पत्रिका खूब मुनाफ़ा कमाने लगे. लेकिन वे अपने सम्पादकों को वाजिब मेहनताना नहीं देते थे. नतीजतन आचार्य शिवपूजन सहाय अपने घर गये तो वापस नहीं आये. निराला के जीवनीकार रामविलास शर्मा ने इस प्रसंग पर रोशनी डाली है. सेठजी ने इसे व्यापार नहीं माना, हालाँकि कर वे व्यापार ही रहे थे. *मतवाला* शुरू करने वालों में से एक, आचार्य शिवपूजन सहाय जिन्हें सूर्यकांत त्रिपाठी निराला 'चमेली के फूल' की तरह गद्य लिखने वाला कहते थे, अलग हो गये. कालांतर में निराला भी छोड़ गये. फिर पाण्डेय बेचन लाल शर्मा 'उग्र' जुड़े. *मतवाला* के उदाहरण से उस ज़माने की व्यावसायिकता जो कि 'ह्रासात्मक' नहीं थी और राष्ट्रीय पूँजीपति वर्ग के चरित्र का पता चलता है. इससे तत्कालीन पत्रिकाओं की संरचना में रचनाकारों की हालत का भी कुछ अंदाज़ा लगता है. देखें, कर्मेन्दु शिशिर (सम्पा.)(2002), *नवजागरण कालीन पत्रकारिता और मतवाला,* खण्ड एक, अनामिका पब्लिशर्स, नयी दिल्ली.

[68] वीरभारत तलवार (2002), *रस्साकशी : उन्नीसवीं सदी का नवजागरण और पश्चिमोत्तर प्रांत,* सारांश प्रकाशन, नयी दिल्ली; वसुधा डालमिया (1999), *नैशनलाइजेशन ऑफ़ हिंदू ट्रेडिशन,* ऑक्सफ़र्ड इण्डिया पेपर बैक्स, नयी दिल्ली.

के संसाधन पर निर्भर करता है। प्रेमचंद द्वारा प्रकाशित *हंस* की मिसाल को याद करें तब तो कहना होगा, प्रेमचंद सरीखे सम्पादकों को जूता सिलाई से चण्डी पाठ तक सारे काम करने पड़ते थे। पत्रिका के स्वरूप के आधार पर उस समय के लिहाज़ से *सरस्वती, माधुरी, मतवाला* जैसी पत्रिकाएँ 'बड़ी' पत्रिका की कोटि में रखी जा सकती हैं। *हंस* को प्रेमचंद अपना 'तीसरा पुत्र' कहते थे। उन्हें इसके प्रकाशन में किस आर्थिक परेशानी का सामना करना पड़ता था, इस पर अमृत राय,[69] मदन गोपाल[70] और रामविलास शर्मा[71] ने पर्याप्त रोशनी डाली है। *माधुरी* के सम्पादक-मण्डल में नौकरी करते हुए प्रेमचंद ने *हंस* का प्रकाशन शुरू किया था।[72] इस पत्रिका के प्रकाशन से नियमित हो रहा नुक़सान ही एक बड़ी वजह थी कि प्रेमचंद ने अपने इस 'तीसरे पुत्र' को भारतीय साहित्य परिषद[73] का मुखपत्र बनाना स्वीकार किया था। पर इसका सकारात्मक परिणाम नहीं निकला। अंततः प्रेमचंद ने फिर से स्वयं *हंस* का प्रकाशन किया।

बहरहाल, लघु-पत्रिका आंदोलन के संदर्भ में शंभुनाथ का यह कहना सही है कि 'कोई भी आंदोलन हठात् नहीं पैदा होता और उसमें परिपक्वता ऐतिहासिक स्थितियों में विकास के साथ ही आती है। साहित्यिक पत्रिकाओं की दीर्घ परम्परा में लघु-पत्रिकाओं का उभार एक 'प्रतिवाद' के रूप में हुआ था। यह 'प्रतिवाद' समग्रतः सम्पूर्ण व्यवस्था से था और विशेषतः व्यावसायिक पत्रिकाओं से। ... साठ के दशक में जब लघु-पत्रिकाओं का आगमन हुआ, पुरानी साहित्यिक पत्रिकाएँ काफ़ी पहले से बंद थीं (वैसे *सरस्वती* तब भी अर्थहीन रूप से निकलती थी) उनका स्थान ले चुकीं व्यावसायिक पत्रिकाएँ समाज की बौद्धिक सेवा करने की जगह अपने को लाभकारी व्यवसाय का रूप दे चुकी थीं। दूसरे, साहित्य के संस्थानीकरण की प्रक्रिया में नयी रचनात्मक अभिव्यक्तियाँ कुचली जा रही थीं या इनको पर्याप्त जनतांत्रिक अवसर नहीं मिल रहा था। उसी संकट के दौर में लघु-पत्रिकाएँ निकलीं। वे *नयी कहानियाँ, ज्ञानोदय, सारिका,* आदि से भी भिन्न थीं। उनके पीछे एक भी साहित्य प्रेमी पूँजीपति नहीं था। उनका तेवर भिन्न था, जिससे आज हमारी कितनी असहमति या सहमति है, इस पर विस्तृत विचार न कर फिलहाल इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि उन लघु-पत्रिकाओं ने कई निषेधात्मक तत्त्वों के बावजूद *कविवचन सुधा* की साहित्यिक पत्रकारिता की परम्परा का ही विकास किया, अपने समय के साहित्य और विद्रोह को बचाया तथा अपने 'ऊलजलूल' से अपने युग के 'उदात्त' और 'आभिजात्य' के छद्म रूपों को चुनौती दी।' इन्हीं वजहों से 'उन लघु-पत्रिकाओं की अर्थपूर्ण

---

[69] अमृत राय (2002), *प्रेमचंद : हिज़ लाइफ़ ऐंड टाइम्स,* अंग्रेज़ी अनु. हरीश त्रिवेदी, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

[70] मदन गोपाल (1965), *क़लम का मज़दूर प्रेमचंद,* राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.

[71] रामविलास शर्मा (2011), *प्रेमचंद और उनका युग,* राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.

[72] मदन गोपाल ने *हंस* शुरू करने के कारणों पर तफ़सील से विचार करके नतीजा निकाला है यदि प्रेमचंद का बस चलता तो *ज़माना* के सारे अंकों को सामाजिक तथा राजनीतिक विषयों से भर डालते. चूँकि *माधुरी* में वे अपनी मनमानी नहीं कर सकते थे, इसलिए उनकी इच्छा थी कि स्वयं अपना पत्र निकालें. एक कारण तो यह भी था कि अपनी मासिक पत्रिका निकालने से एक पंथ दो काज पूरे होते— एक तो साहित्यिक तथा राजनीतिक पत्रिका निकलती और दूसरे उनका सरस्वती प्रेस चलता. परिणामतः पत्रिका की योजना बनी. कविवर जयशंकर प्रसाद ने प्रोत्साहन दिया और प्रेमचंद के इस पत्र का नाम *हंस* रखने का सुझाव दिया. देखें, मदन गोपाल : 203.

[73] भारतीय साहित्य परिषद में महात्मा गाँधी (सभापति), राजेंद्र प्रसाद (उपसभापति), कन्हैयालाल मुंशी (मंत्री), काका कालेलकर (मंत्री), जमनालाल बजाज (कोषाध्यक्ष), जवाहरलाल नेहरू, चक्रवर्ती राजगोपालचारी, मौलवी अब्दुल हक़, सरदार किबे, प्रेमचंद, पुरुषोत्तम दास टंडन, एस.एन. सुब्बाराव, सरदार पणिक्कर, डॉक्टर कालीदास नाग, मुहम्मद अक़ील, एम. कालेश्वर राव, देव शर्मा अभय, रामनरेश त्रिपाठी, माखनलाल चतुर्वेदी, ब्रिजलाल बियानी और जयचंद्र विद्यालंकार (सदस्य) थे. देखें, मदन गोपाल : 312.

अनियमितता को कई निरर्थक नियमितताओं से बेहतर कहा जा सकता है क्योंकि उनकी अनियमितता में एक महान् निरंतरता सुरक्षित थी। इन तथ्यों से कोई इनकार नहीं करेगा कि आज के सभी महत्त्वपूर्ण लेखक उन्हीं लघु-पत्रिकाओं से उभरे हैं।' कहना न होगा कि 'आज़ादी बाद के साहित्य का अध्ययन अधूरा है, यदि हमारे सामने लघु-पत्रिकाएँ नहीं हों।'[74]

बीसवीं सदी के अंतिम दशक का संगठित लघु-पत्रिका आंदोलन दरअसल साठ-सत्तर के दशक के लघु-पत्रिका आंदोलन का ख़ास ऐतिहासिक स्थितियों में विकसित रूप है। पर इनमें अंतर भी है। इन दोनों दौर के आंदोलन के फ़र्क़ को रेखांकित करते हुए शंभुनाथ ने लिखा है कि '60 के दशक की लघु-पत्रिकाओं पर अराजकता, कुण्ठा और निराशा की छाप भले हो, आज के लघु-पत्रिका आंदोलन की अंतर्वस्तु नयी ऐतिहासिक ज़रूरत के अनुसार बदल गयी है। आज की लघु-पत्रिकाएँ खण्ड और मिथ्या चेतनाओं के ख़िलाफ़ सांस्कृतिक नवजागरण की महत्त्वपूर्ण न्यूक्लियस हैं। ये इकट्ठा हो रही हैं भीतरी युद्धविराम की एक स्पष्ट घोषणा के साथ। वैचारिक मतभेद लघु-पत्रिकाओं की बृहत्तर एकता में अब बाधक नहीं है। साठ के दौर की लघु-पत्रिकाएँ आपसी टूट से लगातार बिख़रती जा रही थीं और अंतर्कलहग्रहस्त थीं, पर आज की लघु-पत्रिकाएँ अपनी स्वायत्तता बरक़रार रखते हुए एक दूसरे के साथ मिलकर चलने को विकल हैं। इनके बीच अभूतपूर्व सौहार्द स्थापित हो रहा है। इतिहास ने इन पर महत्त्वपूर्ण ज़िम्मेदारी सौंप दी है— न केवल एक साझा अभियान के साहित्य को बचाने और विकसित करने की, बल्कि, अपना स्वरूप अत्याधुनिक संचार-माध्यमों के बरअक्स पुनर्निर्माण करने की। यह वजह है कि लघु-पत्रिका आंदोलन संकीर्णतावादी पुनरुत्थानों और विसंस्कृतीकरण के ख़िलाफ़ हमारे समाज की बेचैनी और आत्म पहचान के संघर्ष की ही सांस्कृतिक अभिव्यक्ति नहीं है, इसका लक्ष्य अपने माध्यम के सामर्थ्य और सीमा को पहचानना भी है।'[75] शंभुनाथ ने लघु-पत्रिका और इसके आंदोलन के दाय तथा इसके ऊपर महती ज़िम्मेदारी को स्पष्ट किया है। शंभुनाथ द्वारा बतायी बातें लघु-पत्रिका और इस आंदोलन का एक पहलू है। इसके दूसरे पहलू यानी इनके स्तर में आयी गिरावट की व्याख्या करते हुए वीर भारत तलवार ने लिखा है कि 'लघु-पत्रिकाओं में रचना के स्तर का पतन दरअसल हमारे युग के व्यापक पतन का ही हिस्सा है। जब सम्पादक पत्रिका के ज़रिये ख़ुद को स्थापित करना चाहता है, वह पत्रिका को अपना गोल बढ़ाने, अपने ताक़त और प्रभाव क्षेत्र बढ़ाने की राजनीति का माध्यम बना लेता है, तो फिर वह रचनाओं के स्तर पर ध्यान नहीं देकर दूसरी बातों को ज़्यादा महत्त्व देने लगता है। ऐसी स्थिति में चाहे *हंस* हो या *पहल*, गिरावट तो आनी ही है। यह कहना सही नहीं होगा कि इन दो पत्रिकाओं में या दूसरी पत्रिकाओं में भी यही बातें हो रही हैं। नहीं, सब कुछ काफ़ी मिले-जुले रूप में होता है ताकि विश्वसनीयता भी बनी रहे।'

तलवार का कहना है, 'पत्रिकाओं का स्तर सिर्फ़ किसी सामूहिक आंदोलन से ऊँचा नहीं उठ सकता। युग के रचनात्मक माहौल में ही कोई पत्रिका उठती है और गिरती है। इसके अलावा, यह एक व्यक्ति का साहित्यिक संघर्ष भी होता है। सम्पादक की हैसियत से पत्रिका निकालना साहित्यिक साधना है। नैतिक निष्ठा, कल्पनाशीलता और परिश्रम के बिना कोई साधना नहीं हो सकती। अगर पत्रिका में प्रूफ़ की गलतियाँ भरी हों और हर अंक में होती हों तो क्या इस ग़लती को दुरुस्त करने के

---

[74] शंभुनाथ, उत्तरार्द्ध (1995) अंक-40, पृ 55 .

[75] उत्तरार्द्ध (1995) अंक-40 : 55. लघु-पत्रिका आंदोलन पर खड़े किये गये सवालों का जवाब देते हुए सूरज पालीवाल और राघव आलोक ने भी लिखा था. देखें, सूरज पालीवाल (1995), 'लघु-पत्रिकाओं की सार्थकता' *उत्तरार्द्ध*, अंक 39 : 69-71; राघव आलोक (1995), 'लघु-पत्रिका एक सांस्कृतिक प्रवाह है', *उत्तरार्द्ध*, अंक 40, : 57-58.

लिए किसी संगठन और आंदोलन की ज़रूरत होगी?' डॉ. तलवार ने इसके साथ लघु-पत्रिका आंदोलन के एक चिंताजनक पहलू की तरफ़ संकेत किया है, 'जमशेदपुर में लघु-पत्रिकाओं के दूसरे राष्ट्रीय आंदोलन (सम्मेलन पढ़ें) को देखकर यह नहीं लगा कि उसमें भाग लेने वाले सम्पादकों को अपने आंदोलन और घोषित कार्यक्रम तथा उद्देश्यों में कोई गहरी आस्था है। इसकी एक मिसाल उसमें पारित एक प्रस्ताव है, जिसमें लेखकों को, उनकी रचनाओं पर, पारिश्रमिक देने के लिए कहा गया था। जिस समय यह प्रस्ताव पास किया गया, उस समय भी ऐसा नहीं लगा कि इस प्रस्ताव को पास करने वालों में इस प्रस्ताव के प्रति कोई निष्ठा है। सिर्फ़ *प्रसंग* (हजारीबाग) के सम्पादक शंभु बादल ने घबराते हुए कहा कि यह उनके लिए सम्भव नहीं होगा। इस पर दूसरे सम्पादक उनकी घबराहट पर हँसे— हम कौन-सा पारिश्रमिक देने जा रहे हैं। अरे कुछ प्रतीकात्मक दे दिया जाएगा। कभी मिले तो पान-वान खिला दीजिएगा। ऐसी ही चतुराई-भरी भावनाओं के मुआफ़िक प्रस्ताव में सावधानी के साथ न्यूनतम प्रतीकात्मक मानदेय देने की बात कही गयी। मानदेय का यह स्वरूप अपने आप में हास्यास्पद और निरर्थक है। इसे सम्पादकों की भावनात्मक अभिव्यक्ति भी नहीं माना जा सकता है। यह एक औपचारिकता का निर्वाह भर था। लघु-पत्रिकाओं की हक़ीक़त को देखते हुए पारिश्रमिक देना मुमकिन नहीं। इसे खुल कर कहा जाना चाहिए। ऐसा प्रस्ताव क्यों पास किया जाए, जिसमें आपकी निष्ठा ही न हो? दरअसल यह हमारे समय की राजनैतिक संस्कृति है, जिसका शिकार प्रबुद्ध वर्ग भी है। लघु-पत्रिका आंदोलन इस संस्कृति को तोड़ नहीं रहा, इसमें भाग ले रहा है।'[76]

लघु-पत्रिका आंदोलन के लिए सम्पादकों और समर्थक रचनाकारों का राष्ट्रीय सम्मेलन कोलकाता में 1992 में आयोजित हुआ था। तीन साल बाद इस दौरान हुई प्रगति का जायज़ा लेते हुए तलवार ने लिखा है कि 'लघु-पत्रिकाओं का आंदोलन कुछ भावनाओं के सहारे खड़ा करने की कोशिश की जा रही है। ये भावना इस आंदोलन के नेताओं के लेखों-भाषणों में दिखाई देती है, लेकिन सिर्फ़ भावनाओं के सहारे कोई आंदोलन कैसे खड़ा हो सकता है। फिर इन भावनाओं की जड़ें हर जगह ज़मीन में नहीं दिखतीं। हाल ही में *दस्तक* पत्रिका, जमशेदपुर के पाँचवें अंक में ज्ञानरंजन का लेख छपा है, 'हमारी चुनौतियाँ तपती रेत में नंगे पाँव चलने की तरह हैं।' शीर्षक की ही तरह लेख में कई कलात्मक पंक्तियाँ हैं, जैसे गगन में फैलते वातावरण में लघु-पत्रिकाओं की समृद्धि गुनगुना रही है। कुछ बातें बढ़-चढ़कर कही गयी हैं। कहा गया है कि जब एशिया, अफ़्रीका और विभिन्न भू-भागों के मुक्ति-संग्राम भुलाये जा रहे हैं, तब एकमात्र लघु-पत्रिकाएँ ही पंख फड़फड़ाकर आस-पास की धूल उड़ा सकती हैं। इस ऊँची उड़ान पर किसी टिप्पणी की ज़रूरत है? हक़ीक़त यह है कि लघु-पत्रिकाएँ ख़ुद एक-एक करके धूल में गिरती जा रही हैं और उनका संगठन तथा आंदोलन खड़ा करके भी उनकी गिरावट को रोक पाना मुश्किल नज़र आ रहा है। विभिन्न पत्रिकाओं के अंकों में सहयोगी पत्रिकाओं की लम्बी सूची अक्सर छपी रहती हैं। दूसरे राष्ट्रीय सम्मेलन के बाद एक बुलेटिन छपा है, जिसमें राष्ट्रीय लघु-पत्रिका समन्वय समिति की कुल 58 सदस्य पत्रिकाओं के नाम पते दिये गये हैं। आप गौर करें तो पता चलेगा कि इनमें से कई पत्रिकाएँ इधर अरसे से निकली ही नहीं हैं। जो सम्पादक लघु-पत्रिका आंदोलन को चला रहे हैं, ख़ुद उनकी पत्रिकाओं का क्या हाल है? हालत यह है कि ख़ुद उनमें से भी कई एक की पत्रिकाएँ इधर नहीं निकल रहीं। जो निकल रही हैं, उनमें लगातार गिरावट आयी है। कुछ के बारे में कहना मुश्किल है कि आगे भी निकलेंगी या बंद हो चुकी हैं। अगर लघु-पत्रिका आंदोलन को तीन साल से चला रहे सम्पादकों की अपनी पत्रिकाओं की हालत यह है तो आंदोलन की सार्थकता क्या हुई? आंदोलन किसके लिए? इस हक़ीक़त के आगे 'गगन में फैलते

---

[76] *उत्तरार्द्ध* (1995), अंक 39, : 68.

वातावरण में लघु-पत्रिकाओं की समृद्धि गुनगुना रही है' वाक्य अपनी सुंदर भाषा के बावजूद निष्प्राण लगता है।[77]

अपनी इन सीमाओं के बावजूद पत्रिकाओं के सम्पादक आंदोलन के ज़रिये एक-दूसरे से साझा करने की कोशिश में लगे थे। समन्वय समिति के संयोजक ज्ञानरंजन और संयुक्त संयोजक शंभुनाथ द्वारा जारी परिपत्रों में इसकी झलक मिलती है। लघु-पत्रिका आंदोलन के परिपत्र में अपने देश-काल की चुनौतियों के प्रति बाख़बर रहने और पाठकों के बीच इन्हें उजागर करने की चिंता दिखती है। *.क़तार* में प्रकाशित एक परिपत्र से पता चलता है कि जमशेदपुर में सम्पन्न दूसरे राष्ट्रीय सम्मेलन के बाद *दस्तक* ने तीसरा बुलेटिन प्रकाशित किया था। बिहार राज्य समन्वय समिति की संयोजक रमणिका गुप्ता ने 'बड़ी मेहनत से हज़ारीबाग में लघु-पत्रिकाओं की बिहार कार्यशाला का आयोजन 29-30 अक्टूबर, 1994 को किया, जिसमें पचास से अधिक लेखकों-सम्पादकों ने सक्रिय रूप से भाग लिया। 18 फ़रवरी, 1995 को *पल प्रतिपल* के देश निर्मोही द्वारा चण्डीगढ़ में आयोजित लघु-पत्रिकाओं पर केंद्रित संगोष्ठी; 9 अप्रैल, 1995 को वेद व्यास द्वारा जयपुर में आयोजित लघु-पत्रिका संगोष्ठी तथा *उत्तरार्द्ध* द्वारा लघु-पत्रिका आंदोलन पर जारी बहस इस आंदोलन की निरंतरता और सार्थकता के प्रमाण हैं। कुमार सम्भव की स्मृति में *परिवेश* द्वारा इसी साल मुरादाबाद में एक सफल आयोजन हुआ। *.क़तार* ने धनबाद में ऐसा आयोजन किया। *पुरुष* के सम्पादक विजयकांत ने एक पत्र जारी कर कुछ कमियों की ओर इशारा किया, जिन्हें सुधार लिया गया। इस तरह स्वत:स्फूर्त सचेतनता के कई अच्छे नतीजे सामने आये। 'राष्ट्रीय लघु-पत्रिका समन्वय समिति' का हर सदस्य लघु-पत्रिका अपने मोर्चे पर एक अडिग संस्कृति सैनिक है।'[78] इस परिपत्र में कहा गया है कि 'पिछले दिनों सांस्कृतिक प्रदूषण का जाल और अधिक फैला है। साम्प्रदायिकता, जातिवाद तथा दूसरे पृथकतावादी तत्त्वों की चुनौती ही घनीभूत नहीं हुई है, अंधविश्वासों का नंगा नाच भी शुरू हुआ है। पश्चिमी साम्राज्यवाद के कठोर पंजों में सम्पूर्ण विश्व समाता जा रहा है— नया भूमण्डलीय बाज़ार तंत्र मानवीय संवेदनशीलता और मूल्य-बोध के ख़ात्मे पर उतारू है। इस अराजक परिदृश्य में एक सकारात्मक चीज़ यह दिखाई दे रही है कि अपने जीवन की अनिश्चितता और बदहाली से परेशान साधारण वर्ग के लोग न केवल नये पुनरुत्थानवाद को, बल्कि नव-औपनिवेशिक विकास को भी शंका से देखने लगे हैं। साहित्यिक परिदृश्य में यदि एक ओर अख़बारों तथा अत्याधुनिक मीडिया ने साहित्य को हाशिये से भी बाहर फेंक दिया है तो दूसरी ओर विभिन्न नगरों में लेखक, सम्पादक, साहित्य प्रेमी और कलाकार अंतर्कलह से मुक्त होकर पारस्परिक सद्भावना और सहयोग की ओर बढ़ रहे हैं। इसमें संदेह नहीं कि 'आत्मनिरीक्षण' और 'पुनर्गठन' की नयी ऐतिहासिक प्रक्रिया उन्हें साझा सांस्कृतिक अभियान को और तीव्र करने के महान् संकल्प की ओर अग्रसर करेगी। 'राष्ट्रीय लघु-पत्रिका समन्वय समिति' के माध्यम द्वारा संवाद और समन्वयन का जितना विस्तार हो जाना चाहिए था, अभी तक नहीं हो पाया है। इसकी वजह संकल्प की कमी न होकर लघु-पत्रिकाओं के बीच भौगोलिक दूरी, आर्थिक संसाधनों का अभाव तथा अपनी-अपनी पत्रिका अथवा लेखन को लेकर व्यस्तता है।'[79]

समन्वय समिति ने तीसरा राष्ट्रीय सम्मेलन आजमगढ़ में 14-15-16 नवम्बर, 1997 को किया। इसमें समन्वय समिति के बुलेटिन का नाम 'लघु-पत्रिका अभियान' तय हुआ।[80] सम्मेलन की मेज़बानी

---

[77] वही : 67.

[78] क़तार (1996), सम्पा. ब्रजबिहारी शर्मा, धनबाद, अंक 19, वर्ष 10 : 268.

[79] वही : 267-268.

[80] *लघु-पत्रिका अभियान* (राष्ट्रीय लघु-पत्रिका समन्वय समिति का बुलेटिन-4, जनवरी 1999; प्रधान सम्पा. शंभुनाथ, सम्पा. रमेश उपाध्याय, विभूतिनारायण राय, हावड़ा, : 5 (इस सम्मेलन के अध्यक्ष-मण्डल में थे परमानंद श्रीवास्तव, रमेश उपाध्याय, से.रा. यात्री, शलभ श्रीराम सिंह, श्रीराम वर्मा, विजेंद्र नारायण सिंह और मौलाना ज़ियाउद्दीन).

वर्तमान साहित्य के सम्पादक विभूतिनारायण राय ने की और उद्घाटन कवि केदारनाथ सिंह ने किया। उन्होंने कहा कि 'लघु-पत्रिका आंदोलन हिंदी साहित्य में भक्ति आंदोलन के बाद सबसे बड़ा आंदोलन है। बड़े संचार माध्यम तो बाज़ारवाद और उपभोक्तावाद के मकड़जाल में फँस गये हैं, लेकिन लघु-पत्रिकाएँ साहित्य के जनतंत्र के सजग प्रहरी के रूप में चुपचाप एक सांस्कृतिक आंदोलन चला रही हैं। ज़्यादातर लघु-पत्रिकाएँ क़स्बों और छोटे शहरों से निकल रही हैं। लेकिन वे बड़े शहरों के साहित्य को भी प्रभावित कर रही हैं, क्योंकि आज जो भी सार्थक और महत्त्वपूर्ण लिखा जा रहा है, उसका अधिकांश इन्हीं के माध्यम से सामने आ रहा है। चिंता की बात यह है कि इनका आर्थिक आधार मज़बूत नहीं है और प्रसार कम है। इस पर सम्मेलन में गम्भीरतापूर्वक विचार होना चाहिए।'[81] केदारनाथ सिंह का यह वक्तव्य अचरज में डालता है। भक्ति आंदोलन ने तत्कालीन साहित्य के प्रतिमान को चुनौती दी थी और बदला भी था। संस्कृत के बरअक्स जनपदीय भाषाओं को स्थापित किया था। इस अहम बदलाव के कारण ही तत्कालीन वंचित तबकों की सृजनात्मकता का रचनात्मक विस्फोट सामने आया। प्रतिमान-परिवर्तन करने का जो काम भक्ति आंदोलन ने किया था, क्या वह लघु-पत्रिका आंदोलन ने भी किया? ज़ाहिर है इस कसौटी पर लघु-पत्रिका आंदोलन ख़रा नहीं उतरता। प्रगतिशील आंदोलन ने भी साहित्य के प्रतिमान बदले थे। इस पैमाने पर भी लघु-पत्रिका आंदोलन कमज़ोर साबित होता है। बहरहाल, तीसरे राष्ट्रीय सम्मेलन में 'बड़े संचार माध्यमों का सांस्कृतिक आक्रमण'[82] और 'साम्राज्यवाद विरोधी सांस्कृतिक आंदोलन : लघु-पत्रिकाओं की भूमिका'[83] और 'लघु-पत्रिकाओं का समानांतर चैनल : नयी वितरण प्रणाली'[84] जैसे विषयों पर चर्चा हुई।

स्वायत्तता के साथ सहयात्रा में बिखराव

समन्वय समिति का चौथा सम्मेलन जयपुर में 24-25 फ़रवरी, 2001 को आयोजित हुआ। इसकी मेज़बानी पिंक सिटी प्रेस क्लब और राष्ट्रभाषा प्रचार समिति ने की थी।[85] लघु-पत्रिका आंदोलन का यह आख़िरी बड़ा सम्मेलन साबित हुआ। 'स्वायत्तता के साथ सहयात्रा' का सूत्र लेकर आंदोलन हेतु जो समन्वय समिति बनी थी, उसमें बिखराव के स्पष्ट संकेत इस सम्मेलन में दिखे। समिति के संयुक्त संयोजक शंभुनाथ ने सम्मेलन में कहा कि 'हमारे ज़माने की एक बड़ी विडम्बना है कि संवाद के अत्याधुनिक साधन जितने बढ़ते जा रहे हैं, समाज में संवादहीनता भी बढ़ती जा रही है और लघु-पत्रिकाओं के सम्पादकों-लेखकों के बीच तो यह चरम पर है। आज चुनौतियों और आंदोलन के मुद्दे जितने स्पष्ट हैं, दुर्भाग्यवश बिखराव उतना ही ज़्यादा है।'[86] जयपुर में आयोजित इस सम्मेलन में एक

---

[81] वही : 5.

[82] वही : 5-6; इसका विषय प्रवर्तन शंभुनाथ ने किया। रमेश उपाध्याय, विजेंद्रनारायण सिंह, परमानंद श्रीवास्तव और मौलाना ज़ियाउद्दीन ने अपने विचार रखे.

[83] वही : 6-7; इस विषय पर आयोजित सत्र की अध्यक्षता नीलकांत, लाल बहादुर वर्मा और रमेश उपाध्याय ने की. विजयकांत ने संचालन किया और सुधीर विद्यार्थी ने आलेख पाठ किया. परमानंद श्रीवास्तव, मदनमोहन, विमल वर्मा, परशुराम, शंकर, के.के. पाण्डेय, सेवाराम त्रिपाठी, जयप्रकाश घूमकेतु, से.रा. यात्री, शालिग्राम शास्त्री, नीरद जनवेणु, किरणचंद्र शर्मा, शिवकुमार पराग ने बहस में भाग लिया.

[84] वही : 7; इस विषय पर आयोजित सत्र के अध्यक्ष थे अभय, के.एन. राय और विजेंद्र नारायण सिंह. रामकुमार कृषक और सेवाराम त्रिपाठी ने आलेख पढ़ा. गिरीशचंद्र श्रीवास्तव ने संचालन किया. आलेख-पाठ के बाद हुई चर्चा में विभूतिनारायण, राघव आलोक, शोभानाथ शुक्ल, रघुवंश मणि, राकेश रेणु, अरविंद सिंह, सुरेश चंद्र यादव, श्रीप्रकाश मिश्र और रमणिका गुप्ता ने भाग लिया.

[85] *लघु-पत्रिका अभियान* (लघु-पत्रिका समन्वय समिति का मुखपत्र) बुलेटिन-5; सम्पा. राजाराम भादू, जयपुर : 1.

[86] वही :पृ 1.

तरफ़ इसके संयुक्त संयोजक ने आपसी संवादहीनता और बिखराव को रेखांकित किया; वहीं दूसरी तरफ़ ठेठ सामाजिक-राजनीतिक मोर्चे पर काम कर रहे किशन पटनायक[87] और अरुणा राय[88] को भी इसमें आमंत्रित किया गया था। पटनायक और राय को बुलाना इस बात की तरफ़ इशारा है कि साहित्य से जुड़े ज़्यादातर सम्पादकों और लघु-पत्रिका आंदोलन के नेताओं ने, इसे सीधे तौर पर सामाजिक-राजनीतिक मोर्च पर काम करने वाले-समूहों की चिंताओं से, जोड़ने की कोशिश की थी। इस सम्मेलन में आयोजित विचार-गोष्ठी के विषय से भी आंदोलन की चिंता के विस्तार का सबूत मिलता है। 'लघु-पत्रिकाओं की अंतर्वस्तु : दलित, आदिवासी, अल्पसंख्यक और स्त्री-प्रश्न'[89] और 'लघु-पत्रिकाओं की अंतर्वस्तु : साहित्येतर चिंतन और ज्ञान का समावेश'[90] विषय पर विमर्श ठेठ साहित्य के दायरे से व्यापक सवालों की दिशा में विस्तार का सूचक है। यही वह बिंदु है, जहाँ लघु-पत्रिकाएँ या उनका आंदोलन अपनी सार्थकता और तत्कालीन अर्थवत्ता ज़ाहिर कर सकते थे।

जयपुर सम्मेलन में 'लघु-पत्रिका आंदोलन : भविष्य के कार्यभार' विषय पर भी विचार-विमर्श हुआ। इस दौरान यह सवाल उठा कि लघु-पत्रिका का आंदोलन वास्तव में आंदोलन है या नहीं?[91] कारण कि 'आंदोलन से संगठन बनते हैं, संगठन से कोई आंदोलन नहीं चलता। जब जनता आंदोलन कर रही होती है तो कई तरह से संगठन बन जाते हैं। राजनीतिक संगठन भी, सांस्कृतिक संगठन भी और अन्य संगठन भी।'[92] ऐसी हालत में समन्वय समिति लघु-पत्रिका को वैकल्पिक मीडिया के तौर पर विकसित करने पर बल देती है। इस पर लघु-पत्रिका आंदोलन के एक सदस्य ने कहा कि 'हमारी पत्रिकाएँ तो हज़ार-दो हज़ार से ज़्यादा पाठकों तक पहुँचती ही नहीं, ठीक से। लेखक आपस में ही पढ़ते हैं।'[93] लिहाज़ा, इस प्रसार संख्या के बल पर आंदोलन खड़ा करने और वैकल्पिक मीडिया बनने पर चिंता प्रगट की गयी।[94] 'राष्ट्रीय लघु-पत्रिका समन्वय समिति' की अगुवाई करने वाले लोगों के मन में ही इसे आंदोलन माना जाए या नहीं यह साफ़ नहीं था। हज़ार-दो हज़ार की प्रसार संख्या के बल पर क्या हो सकता है— यह सवाल ज़्यादातर लोगों को चिंतित करता लगा। पर इतना तो साफ़ था कि 'वर्तमान परिप्रेक्ष्य में ... कोई आंदोलन नहीं है।'[95] इसलिए कहा गया कि 'हम लेखकों का, लघु-पत्रिकाओं का यह दायित्व बनता है कि आंदोलन की स्थिति पहले पैदा करें।'[96] क्योंकि आंदोलन पैदा होने के बाद ही 'संगठन उभर कर आएँगे और मज़बूत बनेंगे।'[97] आंदोलन की स्थिति पैदा करने, लघु-पत्रिकाओं और उसके संगठन को मज़बूत बनाने और इसे व्यापक जनता से जोड़ने हेतु कुछ प्रस्ताव पारित किये गये।[98] इसी सम्मेलन में यह फ़ैसला लिया गया कि हर वर्ष नौ सितम्बर को लघु-

---

[87] किशन पटनायक के व्याख्यान के लिए देखें, 'बाज़ारवाद, साहित्य का भविष्य और लघु-पत्रिका आंदोलन' लघु-पत्रिका अभियान, बुलेटिन-पाँच; पृ. 6-10.

[88] अरुणा राय के व्याख्यान के लिए देखें, वही : 10-13.

[89] इस विषय पर वीरेंद्र यादव, हरिराम मीणा, पुन्नी सिंह, कात्यायनी, शंकरलाल मीणा, रामकुमार कृषक, सूरज पालीवाल के वक्तव्य के लिए देखें, वही : 16-17.

[90] इस विषय पर रामबक्ष, रोहित धनकर, अरविंद सिंह, कैलाश मनहर, जितेंद्र राठौर, जितेंद्र सिंह मान, राजाराम भादू, अम्बिका दत्त, प्रेम भटनागर और हेतु भारद्वाज ने भागीदारी की. देखें, वही : 18-19.

[91] वही : 29.

[92] वही : 28.

[93] वही :28.

[94] वही :28.

[95] वही : 31.

[96] वही : 31.

[97] वही : 31.

[98] वही : 38-40.

पत्रिका दिवस के रूप में मनाया जाए।[99]

जयपुर सम्मेलन में कुछ विद्वानों द्वारा की गयी लघु-पत्रिका आंदोलन की आलोचना को भी लोगों ने महसूस किया। पिछले सम्मेलनों में इस बात पर ख़ास बातचीत नहीं होती थी कि लघु-पत्रिकाओं के सम्पादकों द्वारा शुरू की गयी यह कोशिश 'आंदोलन' है या नहीं, लेकिन समन्वय समिति द्वारा प्रकाशित 'लघु-पत्रिका अभियान' (बुलेटिन संख्या-6) को 'पुनर्गठन के लिए संवाद-1' कहा गया है।[100] इस उपशीर्षक से स्पष्ट है कि 'पहले' कुछ गठन हुआ था, जो कालांतर में बिखर गया और फिर से उसका गठन करने हेतु संवाद की कोशिश की जा रही है।'[101] जयपुर सम्मेलन के बाद समन्वय समिति की तरफ़ से कोई राष्ट्रीय सम्मेलन आयोजित नहीं हुआ। शंभुनाथ की अगुवाई में केंद्रीय हिंदी संस्थान में 28-29 अक्टूबर, 2006 को आगरा में लघु-पत्रिकाओं के सम्पादक एकत्र हुए। ज्ञानरंजन ने उद्घाटन भाषण दिया और अध्यक्षता शंभुनाथ ने की। बीसवीं सदी के अंतिम दशक के लघु-पत्रिका आंदोलन की अगुवाई भी इन्हीं लोगों ने की थी। इस आयोजन में हिंदी के कई सम्पादकों ने शिरकत की थी।[102] इस संगोष्ठी के बाद *अक्सर* ने लघु-पत्रिका और उसके आंदोलन पर अपने एक अंक में विशेष सामग्री प्रकाशित कर बहस का आगाज़ किया। *पहल* के सम्पादक ज्ञानरंजन द्वारा प्रस्तुत व्याख्यान 'लघु-पत्रिका आंदोलन : आत्मालोचन और प्रतिज्ञाएँ' *अक्सर* में प्रकाशित हुआ।[103] इसकी समीक्षा करते हुए रमेश रावत ने लिखा है कि 'लघु-पत्रिकाओं की साहित्यिक भूमिका जो भी रही हो लेकिन राजनीतिक और वैचारिक आंदोलन के रूप में वे कोई प्रभावशाली भूमिका नहीं निभा सकीं और ऐसा नहीं लगता कि कभी इसके कारणों की संजीदगी से जाँच-पड़ताल की गयी हो। पिछले दिनों 28-29 अक्टूबर, 2006 को आगरा में केंद्रीय हिंदी संस्थान द्वारा आयोजित दो दिवसीय संगोष्ठी में एक बार पुनः लघु-पत्रिका आंदोलन के नेतृत्व की राजनीतिक और वैचारिक दिशाहीनता खुलकर सामने आयी। ... लगता है लघु-पत्रिका आंदोलन गुटबंदी, व्यक्तिवाद और राजनीतिक दिशाहीनता से जूझ रहा है। उसमें उस वैचारिक उदारता का अभाव साफ़

---

[99] भारतेंदु हरिश्चंद्र ने 9 सितम्बर 1868 को *कविवचन सुधा* का प्रकाशन शुरू किया. कहा गया कि यह एक ऐसी लघु-पत्रिका थी जिसमें पहली बार साहित्यिक और सामाजिक विषय दोनों एक साथ थे. अतएव यह प्रस्तावित किया जाता है कि हर 9 सितम्बर को लघु-पत्रिका दिवस के रूप में मनाया जाए. इस दिन हर नगर, ज़िले और क्षेत्र में लघु-पत्रिकाएँ मिलकर मीडिया, सामाजिक चिंतन और साहित्य से संबंधित विषय पर संगोष्ठी आयोजित करें और साहित्य को जनता की ओर ले जाने वाले कार्यक्रम मसलन काव्य पाठ, कवि सम्मेलन, नाटक, पोस्टर, प्रदर्शनी एवं अन्य आयोजन करें. ग़ौरतलब बात यह है कि लघु-पत्रिका दिवस मनाने संबंधी प्रस्ताव तब पास किया गया, जब लघु-पत्रिका के लेखकों-सम्पादकों के बीच संवादहीनता और बिखराव महसूस किया गया. आशय यह कि जब तक संगठन मजबूत रहा दिवस मनाने की ज़रूरत नहीं पड़ी थी और संगठन की कमज़ोरी परिलक्षित होते ही एक 'दिवस' तय कर लिया गया. वही : 38-39.

[100] *लघु-पत्रिका अभियान* (राष्ट्रीय लघु-पत्रिका समन्वय समिति का बुलेटिन, संख्या-6, अप्रैल, 2006) 'पुनर्गठन के लिए संवाद-1', राष्ट्रीय लघु-पत्रिका समन्वय समिति की पश्चिम बंगाल इकाई के संयोजक उदयराज द्वारा प्रकाशित, हावड़ा; सम्पादक का नाम नहीं छपा है पर उदयराज ने 'बीहड़ समय में लघु-पत्रिकाएँ' शीर्षक से सम्पादकीय लिखा है. इस बुलेटिन में भारतेंदु जयंती के अवसर पर लघु-पत्रिका दिवस सहित विभिन्न जगहों पर आयोजित गोष्ठी, समारोह आदि की रपटें प्रकाशित हैं. देखें : 3-9.

[101] इस बुलेटिन में संकलित शंभुनाथ का आलेख 'संवाद फिर शुरू हो', प्रफुल्ल कोलख्यान का आलेख 'लघु-पत्रिका होने का तर्क' और परमानंद श्रीवास्तव का आलेख 'लघु-पत्रिका आंदोलन और यह समय' में भी यह चिंता दिखती है. देखें : 10-14; बुलेटिन-7 (अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता के लिए संघर्ष) में भी यह चिंता उजागर हुई है.

[102] इस आयोजन में प्रस्तुत महत्त्वपूर्ण पर्चे और अन्य वक्ताओं के वक्तव्य के ख़ास अंशों को *अक्सर* (2007), सम्पा. हेतु भारद्वाज, प्रवेशांक, जुलाई-सितम्बर ने प्रकाशित किया है. देखें, 'गोष्ठी प्रसंग' के अंतर्गत विष्णु पल्लव द्वारा प्रस्तुत 'लघु-पत्रिकाएँ शब्दों की प्रयोगशालाएँ हैं' : 109-122.

[103] वही : 58-67.

झलकता है जो किसी भी वैचारिक और राजनीतिक आंदोलन की बुनियादी ज़रूरत होती है।'[104]

बहरहाल, 'लघु-पत्रिका आंदोलन की चर्चा अब अमूमन नहीं होती। लघु-पत्रिकाओं की भूमिका और उसके महत्त्व को लेकर यदा-कदा कुछ पढ़ने-सुनने को ज़रूर मिल जाता है।[105] पर लघु-पत्रिकाएँ अपनी रौ में प्रकाशित हो रही हैं। अगर कोई लघु-पत्रिका काल-कवलित होती है तो कई जन्म भी लेती हैं। अपने देश-काल के जटिल माहौल में हस्तक्षेप करने, साहित्य-संस्कृति की संरचना में अपनी उपस्थिति दर्ज करने, प्रतिरोध की आवाज़ बुलंद करने, छोटी ही सही पर सत्ता का एक केंद्र अपने इर्द-गिर्द बनाने के मक़सद से किसी-न-किसी इलाक़े से, कोई-न-कोई उत्साही समूह लघु-पत्रिका को जन्म देता है। ग़ौरतलब यह भी है कि लघु-पत्रिका आंदोलन और लघु-पत्रिकाओं को एक कोटि के रूप में देखना पूरे तौर पर ठीक नहीं है। एक स्तर पर दोनों परस्पर जुड़े हैं, पर दूसरे स्तर पर दोनों को अलग-अलग, स्वायत्त इकाई के रूप में देखना तर्कसंगत है। 'आंदोलन' या इनका 'संगठन' भले ही सुनियोजित रूप में नहीं चले पर पत्रिकाएँ अपने-अपने स्तर पर काम करती रही हैं। हिंदी-उर्दू इलाक़े की साहित्यिक सृजनात्मकता को व्यापक पैमाने पर इन्हीं पत्रिकाओं ने उभारा है, जगह दी है। इस इलाक़े के चेतना-निर्माण में भी इनका योगदान है। लघु-पत्रिकाओं के संगठन में भले ही *हंस* सरीखी पत्रिकाएँ शामिल नहीं हुईं, पर इसे भी 'लघु-पत्रिका' की कोटि में रखना होगा। पिछले दो-ढाई दशकों में दलित और स्त्री रचनाशीलता को एक अलग कोटि में रखकर देखने की दृष्टि की स्थापना लघु-पत्रिकाओं की देन है।

बीसवीं सदी के अंतिम दशक में, वामोन्मुख रचनाकारों द्वारा लघु-पत्रिकाओं को सांस्कृतिक आंदोलन का ढाँचा देने की कोशिश एक साथ कई आयामों को प्रतिबिम्बित करती है। साठ-सत्तर के दशक के बाद जो बदलाव घटित हुए उसे समझने, विश्लेषित करने और अपनी प्रतिरोधी भूमिका के मद्देनज़र यह प्रयास किया गया। इसकी प्रक्रिया और परिणति का अध्ययन करने पर पता चलता है कि तत्कालीन दौर के संकटों को हिंदी के इन महत्त्वपूर्ण रचनाकारों ने चुनौती माना था और इससे जूझने तथा प्रतिपक्ष रचने की सच्ची कोशिश की थी। इस कोशिश में, तत्कालीन चुनौतियों से अन्योन्यक्रिया स्थापित करने में, इन रचनाकारों का मानसिक द्वैध भी उजागर हुआ है। इन रचनाकारों ने नब्बे के दशक में हुए बदलाव को अधिकांशतया नकारात्मक अर्थों में ही देखा-समझा है।

इन परिवर्तनों के सकारात्मक पहलू इनकी नज़रों से ओझल रह गये हैं। इनके सोचने-समझने का पुराना मार्क्सवादी तरीका इसका प्रधान कारण है। साथ ही मार्क्सवादी विचार दर्शन के तहत विकसित हो रहे नये वैचारिक प्रत्ययों से अनजान रहना भी एक प्रमुख वजह है। यही कारण है कि साम्प्रदायिक शक्तियों के उभार को तो ये लोग ठीक-ठीक चिह्नित कर पाये हैं परंतु जाति चेतना के प्रस्फुटन को व्याख्यायित करने में इनका बौद्धिक औज़ार भोथरा साबित हुआ। सामाजिक, राजनीतिक और बौद्धिक दुनिया में पिछड़ों, दलितों, आदिवासियों एवं स्त्रियों के हस्तक्षेप के पक्ष में ज़मीन तैयार करने का इनका इरादा इनके वैचारिक द्वैध का शिकार हुआ प्रतीत होता है। इन उपेक्षित तबकों का पक्षधर बनना ये लोग चाहते हैं, लघु-पत्रिका आंदोलन में इसकी कोशिश भी दिखती है; परंतु इनकी पत्रिकाओं में इसका सर्जनात्मक प्रतिफलन हुआ नहीं दिखता। साहित्य से सम्बद्ध *हंस* सरीखी पत्रिकाओं ने यह फ़र्ज़ अदा किया, लघु-पत्रिका आंदोलन में इसके प्रति उपेक्षा भाव ही दिखता है।

---

[104] रमेश रावत (2007), 'राजनीतिक-वैचारिक दिशाहीनता से जूझता लघु-पत्रिका आंदोलन' *अक्सर,* वही : 98-103.

[105] रमणिका गुप्ता (2009), 'भाषाई साम्राज्यवाद की चुनौतियाँ और लघु-पत्रिकाएँ', *नया परिदृश्य,* सम्पा. ओमप्रकाश पाण्डेय, मुन्नालाल प्रसाद, अरुण होता; अंक 1, सिलीगुड़ी, पश्चिम बंगाल : 69-76.

साहित्य से दीगर अनुशासनों में जो अध्ययन हुए और बदलाव को समझने के लिए जो वैचारिक विमर्श विकसित हुए, उससे भी लघु–पत्रिका आंदोलन की नेतृत्वकारी जमात अनजान ही दिखती है। लोकतंत्र के विस्तार और विकास में जाति चेतना के उभार की भूमिका को उदाहरण के तौर पर देखा जा सकता है।

लघु–पत्रिका आंदोलन का एक प्रमुख मुद्दा सांस्कृतिक प्रदूषण से बचने के लिए वैकल्पिक मीडिया के रूप में ख़ुद को स्थापित करना है। यहाँ भी मुख्यधारा की मीडिया की पूरी संरचना में महज नकारात्मकता को ही देखी गयी है। मीडिया को देखने–समझने और वस्तुनिष्ठ आलोचना की आँख इन लोगों में नहीं दिखती है। इसके साथ ही वैकल्पिक मीडिया के तौर पर स्थापित करने के लिए आवश्यक तकनीकी बदलाव की भी समझ नहीं दिखती। लघु–पत्रिका के सम्पादकों के वास्तविक संघर्ष और सच्चे प्रयास की ये सीमाएँ भी इस आंदोलन की संरचना में दिखती हैं।

संदर्भ

अक्सर, प्रवेशांक, जुलाई 2007, जयपुर, राजस्थान.

अमृत राय (2002), *प्रेमचंद : हिज़ लाइफ़ ऐंड टाइम्स,* अंग्रेज़ी अनु. हरीश त्रिवेदी, ऑक्सफ़र्ड युनिवर्सिटी प्रेस, नयी दिल्ली.

अभय कुमार दुबे (सम्पा.) (2002), *लोकतंत्र के सात अध्याय,* वाणी प्रकाशन, दरियागंज, नयी दिल्ली.

आज समाज, नयी दिल्ली, 6 जुलाई, 2010.

उत्तरार्द्ध, अंक 39 एवं 40 (1995), मथुरा, उत्तरप्रदेश.

क़तार (1996), धनबाद.

कर्मेन्दु शिशिर (सम्पा.)(2002), *नवजागरण कालीन पत्रकारिता और मतवाला,* खण्ड एक, अनामिका पब्लिशर्स, नयी दिल्ली.

जनसत्ता, नोएडा, 9 अगस्त, 2009.

दैनिक भास्कर, नयी दिल्ली, 20 जून 2009 : 14 सितम्बर, 2010.

नया परिदृश्य, अंक–1, सिलीगुड़ी पश्चिम बंगाल.

नयी दुनिया, नयी दिल्ली – 26 सितम्बर, 2010.

पाखी, मार्च, 2010, नोएडा, उत्तरप्रदेश.

मदन गोपाल (1965), *क़लम का मज़दूर प्रेमचंद,* राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.

रामविलास शर्मा (2011), *प्रेमचंद और उनका युग,* राजकमल प्रकाशन, नयी दिल्ली.

लघु–पत्रिकाओं की राष्ट्रीय समन्वय समिति द्वारा प्रकाशित *बुलेटिन–1* नवम्बर 1992, जबलपुर मध्य–प्रदेश; *बुलेटिन–2,* अगस्त 1993, सासाराम, बिहार; *बुलेटिन–4,* जनवरी 1999, हावड़ा; *बुलेटिन–5* (2001), जयपुर, राजस्थान; *बुलेटिन–6, हावड़ा.*

वसुधा डालमिया (1999), *नैशनलाइजेशन ऑफ़ हिंदू ट्रेडिशन,* ऑक्सफ़र्ड इण्डिया पेपर बैक्स, नयी दिल्ली.

वीरभारत तलवार (2002), *रस्साकशी : उन्नीसवीं सदी का नवजागरण और पश्चिमोत्तर प्रांत,* सारांश प्रकाशन, नयी दिल्ली.

संवेद, अंक–3, जून, 1993, जमालपुर, बिहार.